आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का आलोचना विवेक और इतिहास के सवाल

'यदि साहित्य का लक्ष्य मनुष्य है तो मनुष्य के समान साहित्य भी स्थिर नहीं, बल्कि गतिशील है। यदि मनुष्य की कोई स्थिर परिभाषा नहीं हो सकती तो साहित्य की ही क्यों हो? आकस्मिक नहीं है कि द्विवेदीजी ने अन्य आलोचकों की तरह 'कविता क्या है' अथवा 'साहित्य क्या है' जैसा लेख कभी न लिखा। साहित्य यदि तैयार माल नहीं है तो साहित्य की कोई तैयार परिभाषा भी नहीं हो सकती। साहित्य इस दृष्टि से एक ऐतिहासिक अवधारणा है इसलिए साहित्य के बारे में यह कहा गया है कि वह इतिहास में पलता है। ..... वस्तुत: द्विवेदीजी की अलोचना में व्याख्या की भूमिका प्रधान नहीं है, प्रधान भूमिका है उद्धरणों के चयन की। प्रसंग के अनुकूल वे ऐसे उद्धरण चुनकर लाते हैं कि किसी अतिरिक्त युक्ति की आवश्यकता रह नहीं जाती। इस कला के क्षेत्र में वे अप्रतिम आचार्य हैं। जाने किस संदर्भ का छंद उठाकर लाते हैं और ऐसे नये संदर्भ में रखते हैं कि संदेह के लिए कोई गुंजाइश नहीं रहती। इस प्रकार वे नये-नये जीवन-संदर्भों से कविता का अर्थ-विस्तार करते हैं। अब कोई इस बात के लिए उन्हें आलोचक मानने से इनकार करे तो अपनी बला से ! आलोचना उनके लिए विश्लेषण का पर्याय नहीं है, परोपजीवी आलोचना के लिए हो तो हो।'[1]

- नामवर सिंह

1 इतिहास के सवाल और भारतीय संस्कृति : चुनौती और चर्या

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के समय भारतीय समाज, संस्कृति, साहित्य और इतिहास के सवाल को लेकर कई तरह की अवधारणाएँ सक्रिय थीं। इन अवधारणाओं में मतभिन्नताएँ तो थी ही, मतविरोध और आत्म-विरोध भी कम नहीं थे--- खासकर भारतीय इतिहास और संस्कृति के सवाल पर। ऐसा कुछ तो पश्चिम और पूरब के विद्वानों के सामने तथ्यों के पूरी तरह स्पष्ट नहीं रहने से अनुमान पर जरूरत से ज्यादा आश्रित हो जाने के कारणों से था, तो कुछ औपनिवेशिक हितबोध एवं अहितबोध से बनी इतिहास-दृष्टि के कारणों से था। कहा जा सकता है कि वह समय जटिलताओं और उलझावों को

समझने और सुलझाने की चुनौतियों से भरा हुआ था। यही चुनौती आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के भी सामने थी। आज भी ये चुनौतियाँ बनी हुई हैं, हालाँकि इनके बाह्य-स्वरूप में बहुत परिवर्त्तन आ गया है, फिर भी इनकी अंतर्वस्तु में कोई बहुत अधिक परिवर्त्तन नहीं हुआ है। यह जरूर है कि हाल के विकास एवं नये तथ्यों और परिस्थितियों के सामने आने से उन चुनौतियों से जूझने के नये तौर-तरीके एवं बौद्धिक चर्या अनिवार्य बन गये हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के आलोचनात्मक विवेक को समझने की कोशिश के लिए चुनौती और चर्या के बदले हुए परिप्रेक्ष्य के इस संदर्भ को ध्यान में रखना आवश्यक है।

1.1 भारतीय विद्या और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी भारतीय विद्या के महान ज्ञाता थे। प्राचीन भारत के ज्ञान-शास्त्र की लगभग प्रत्येक शाखा से उनका न सिर्फ गहरा परिचय, बल्कि गहरा लगाव भी था। कहना न होगा कि लगाव से एक तरह का मोह भी उत्पन्न हो ही जाता है। भारतीय विद्या मोह की इस स्थिति के प्रति कदम-कदम पर सावधान करती आयी है। संभवत: इसीलिए 'निर्लिप्तता' की इतनी बड़ी महिमा मानी गई है। पूरी विनम्रता के साथ यह कहना जरूरी है कि भारतीय विद्या से गहरा लगाव कई बार उन्हें मोहग्रस्त भी करता है। यह समझना जितना आसान आज है, उतना तब नहीं रहा होगा जब आचार्य काम कर रहे थे। आचार्य ने अपने समय में परंपरा के परिष्कार का बीड़ा उठाया था। चाहे जितनी सावधानी बरती जाये, अंतत: परंपरा 'पवित्र वन' ही ठहर जाती है। जड़ी-बूटियों से भरा ऐसा 'पवित्र वन' जहाँ हर झाड़-झँखार 'संजीवनी' प्रतीत होती है। यह प्रतीति कदम-कदम पर भरमाती है। इस प्रतीति के कारण बाघ की 'जलती आँख' रौशनी की खबर लगने लगती है। संस्कृति के सूत्रों में उलझावों का होना स्वाभाविक है। जो संस्कृति जितनी अधिक पुरानी होती है उसके सूत्रों में उलझाव भी उतने ही अधिक होते हैं। कहना न होगा कि भारतीय संस्कृति काफी पुरानी है और स्वभावत: इसमें उलझाव भी बहुत हैं।

1.2 भारतीय संस्कृति :रचाव और व्यवहार

रवींद्रनाथ ठाकुर की कविता में इसकी बेहतर अभिव्यिक्त हुई है--- भारतीय संस्कृति पुरानी है, इतना ही नहीं विभिन्न सांस्कृतिक धाराओं के अंतर्विन्यासों के अंतर्मिलन से ऐतिहासिक विकास क्रम में इसका रचाव संभव हुआ है। यह कहते हुए अंतर्मिलन और अतिक्रमण का अंतर ध्यान में बराबर बना हुआ है। कहना न होगा कि राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रक्रियाएँ न सिर्फ संगामी बल्कि अंतर्संबंधित भी होती हैं। राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रक्रियाओं का वाद-विवाद-संवाद भूगोल का इतिहास बनाते हैं। ध्यान से देखने पर, भारतीय भूगोल के इतिहास की यह विशिष्टता परिलक्षित होती है कि सांस्कृतिक प्रक्रियाओं में अंतर्मिलानी तत्त्व का प्राचुर्य मिलता है जबकि राजनीतिक प्रक्रियाओं में अतिक्रमण का तत्त्व अधिक सक्रिय प्रतीत होता है। यह समझना जरूरी है कि सांस्कृतिक प्रक्रियाओं का अंतर्मिलानी तत्त्व ऐतिहासिक रूप से भारत की सांस्कृतिक एवं वास्तविक सचाई है जबकि राजनीतिक प्रक्रियाओं में अतिक्रमण के तत्त्व में सचाई तो है लेकिन इस अतिक्रमण की सचाई से बड़ी अतिक्रमण की प्रतीति है। यह मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि जीवन में सचाई की अपनी भूमिका होती है तो प्रतीति की भूमिका भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं होती है। यह मानने में भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि अक्सर सचाई को प्रतीति आच्छादित कर लिया करती है। इस तरह के आच्छादन से न सिर्फ सांस्कृतिक संबंधों की स्वनिहित जटिलता बल्कि स्पर्शकातरता भी बहुत बढ़ जाती है। स्वाभाविक है कि भारतीय संस्कृति की आंतरिक उलझनों--- जो वैसे भी कम नहीं रही हैं--- को बौद्धिक औपनिवेशीकरण की कुचेष्टाओं और वि-औपनिवेशीकरण की छटपटाहटों ने और अधिक उलझाया एवं स्पर्शकातर बनाया है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के समक्ष ऐसी ही स्पर्शकातर उलझनों को न सिर्फ सावधानी से समझने और बरतने की चुनौती थी बल्कि एक सुसंगठित राष्ट्र के रूप में भारत की अगली यात्रा के लिए सांस्कृतिक रसद जुटाने की चुनौती भी थी। ध्यान में होना जरूरी है कि इन स्पर्शकातर उलझनों के कारण आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के समय में भारतीय राष्ट्र अपने आधुनिक संघटन की कतिपय गंभीर संरचनागत समस्याओं के सम्मुख था।

1.3 आजादी का मतलब और आंदोलन

आजादी के आंदोलन के दौरान और आजादी प्राप्ति के बाद भी भारत के वृहत्तर समुदायों का मन इस राष्ट्र में अपनी जगह को लेकर काफी उहापोह में था। डॉ आंबेडकर के चिंतन में इसकी कुछ-कुछ झलक देखने को मिल सकती है। डॉ. आंबेडकर ऐतिहासिक रूप से तीन भारत का अस्तित्व मानते थे--- ब्राह्मण भारत, बौद्ध भारत और हिंदू भारत। वे यह मानते थे और बिल्कुल साफ लहजे में कहते थे कि 'यह बात माननी ही होगी कि ऐतिहासिक रूप से एक सामन्य भारतीय संस्कृति का अस्तित्व कभी नहीं रहा है। ऐतिहासिक रूप से भारत तीन रहा है, ब्राह्मण भारत, बौद्ध भारत और हिंदू भारत। इन तीनों की अपनी अलग-अलग संस्कृति रही है। .... यह बात भी माननी होगी कि मुसलमानों के वर्चस्व के पहले ब्राह्मणवाद और बौद्धवाद के बीच गहरे नैतिक संघर्ष का भी इतिहास रहा है।'[2] इन तीनों भारत को मिलाकर एक आधुनिक भारत के बनने के लिए भारतीय संस्कृति की स्पर्शकातर उलझनों को सुलझाने की चुनौती आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के समय के सामने थी, उनके सामने भी थी। जाहिर है कि भारतीय संस्कृति की भिन्न-अभिन्न परंपराओं को उन्हें बार-बार परखना पड़ा।

1.4 भारतीय संस्कृति की स्पर्शकातरता

भारतीय संस्कृति की स्पर्शकातरता में तब की तुलना में कोई कमी नहीं आई है, बल्कि वह बढ़ी ही है। इन स्थितियों में बौद्धिक अन-उपनिवेशन की जरूरत भी बढ़ी है। इसलिए, 'भारतीयता' की खोज आज पहले से कम जरूरी नहीं है और इसीलिए सोचने-विचारनेवाले लोग कहते हैं कि 'भारतीयता की खोज आज के संदर्भ में दो दृष्टियों से आवश्यक है। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद देश में एक सांस्कृतिक अराजकता व्याप्त हो गई है। स्वदेश और स्वदेशी की भावनाएँ, अशक्त होती जा रही हैं। हम बेझिझक पश्चिम का अनुकरण कर अपनी अस्मिता खोते जा रहे हैं। यह प्रवृत्ति एक छोटे, पर प्रभावशाली,

तबके तक सीमित है, पर उसका फैलाव हो रहा है। यदि इसे हमने बिना बाधा बढ़ने दिया तो हमें परंपराओं की संभव ऊर्जा से वंचित होना पड़ेगा और हमारी स्थिति बहुत कुछ त्रिशंकु जैसी हो जायेगी। दूसरा कारण और भी महत्त्वपूर्ण है। संस्कृति आज की दुनिया में एक राजनीतिक अस्त्र के रूप में उभर रही है, न्यस्त स्वार्थ, जिसका उपयोग खुलकर अपने उद्देश्यों के लिए कर रहे हैं। उन पर रोक लग सकती है, यदि हम निष्ठा और प्रतिबद्धता से भारतीयता की तलाश करें।'[3] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी आज खुद हमारी परंपरा हैं, तो उनके आलोचना विवेक की टोह लेना और इतिहास के अनसुलझे सवालों के प्रति समझदार रवैया विकसित करना भी आवश्यक है।

1.5 संस्कार, तर्क और तकनीक

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के आलोचनात्मक विवेक के समक्ष इतिहास के क्या सवाल थे क्या चुनौतियाँ थीं इसे समझना आवश्यक है। फिर, यह देखना भी आवश्यक होगा कि उन चुनौतियों से जूझने की उनकी तकनीक क्या थी, कौशल क्या थे, उनकी तर्क-पद्धति और उनके तार्किक निष्कर्षों की आत्म-संगतियों को भी खँगाल लेना अपेक्षित होगा। कहना न होगा कि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के समय में प्रमुख चुनौती बौद्धिक उपनिवेश से मुक्ति की थी। इस चुनौती से मुक्ति के लिए भारतीय इतिहास और संस्कृति की खोई और टूटी हुई कड़ियों को खोजना और जोड़ने का मुश्किल और जोखिम भरा काम था। इस मुश्किल और जोखिम के क्षेत्र का फैलाव बाहरी और भीतरी दोनों प्रकार के औपनिवेशिक चट्टानों की अंतर्संघाती-रेखाओं (fault line) के बीच की गहरी खाइयों तक था। इतिहास और संस्कृति की ऐसी गहरी खाइयों में उतरना कम खतरनाक नहीं होता है। यह खतरा तब और ज्यादा बढ़ जाता है जब सिर के ऊपर अपने संस्कारों का न उतारे जाने लायक भारी बोझ भी लदा हो। कहना न होगा आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इतिहास और संस्कृति की गहरी खाइयों में अपने संस्कारों के भारी बोझ के साथ उतरने का जोखिम उठाते हैं। ये संस्कार प्राचीन एवं मध्यकालीन थे, जबकि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का युग आधुनिक था। कहना न होगा कि प्राचीन एवं मधयकलीन मूल्यों के साथ आधुनिक मूल्यों के टकरावों और प्राचीन एवं मध्यकालीन ऐतिहासिक सवालों के उलझावों को आधुनिक जरूरतों के अनुसार खोलने की चुनौतियों के बीच आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का आलोचना विवेक विकसित होता है। बौद्धिक उपनिवेश से मुक्ति की चुनौतियों से जूझने के लिए इतिहास की बिखरी हुई वास्तविक कड़ियाँ जहाँ प्राप्त न हो सकीं वहाँ अनुमान ही उपकरण था। अनुमान के लिए कल्पना का उपयोग आवश्यक हुआ। कल्पना का हाथ और साथ मिलते ही संस्कारों को अपना खेल दिखाने का भरपूर अवसर मिला। बौद्धिक उपनिवेश से मुक्ति की चुनौतियों के सवाल मुख्यत: इतिहास के सवाल थे। इतिहास के सवाल के अंतस्साक्ष्य संस्कृति एवं साहित्य से जुटाने के लिए आलोचना का विवेक अनिवार्य तो होता है किंतु पर्याप्त नहीं होता है, उसके लिए गहरी इतिहास दृष्टि की भी जरूरत होती है। गहरी इतिहास दृष्टि के अभाव में इतिहास के पुराण बन जाने का खतरा पैदा हो जाता है। इतिहास दृष्टि के लिए सबसे अधिक घातक तत्त्व है--- कल्पना। मुश्किल यह कि साहित्य के लिए यही कल्पना संजीवनी होती है! कैसी विडंबना है साहित्य और इतिहास बड़े निकट के रिश्तेदार हैं और यह कल्पना एक के लिए अमृत है तो दूसरे के लिए विष! जीवन भी कम विचित्र नहीं है। सिद्धांतों में अमृत और विष भले ही अलग-अलग पाये जा सकते हैं, लेकिन जीवन में ये अक्सर एक साथ ही हासिल होते हैं; जीवन को दोनों की जरूरत होती है। हमारा सांस्कृतिक अनुभव बताता है कि जिसके नाभिकुंड में अमृत के एकांश का सदावास था उसीके दिमाग में विष भी विराजमान था!

1.6 चिंता और चेतना के संदर्भ

आधुनिक भारत का गठन औपनिवेशिक वातावरण में हुआ। औपनिवेशिकता का प्रभाव इतना सूक्ष्म होता है कि पता भी नहीं चलता कि उसका कौन-सा तत्त्व किस तरह से प्रभावित कर रहा है। लोक-जागरण और नवजागरण के अंतर को भी ध्यान में रखना चाहिए। लोक-जागरण भारतीय समाज के आंतरिक दबाव से अनुप्रेरित था जबकि नवजागरण में बाह्य-औपनिवेशिक आकर्षण भी काफी सक्रिय था। यद्यपि बाह्य-औपनिवेशिक होने मात्र से उसका महत्त्व कम नहीं हो जाता है, फिर भी उसकी कुछ ऐतिहासिक सीमाओं को नजरअंदाज करना उचित नहीं प्रतीत होता है। शायद यही कारण हो कि भारतविदों को नवजागरण से अधिक लोकजागरण, अर्थात भक्तिकाल रुचता है। लोकजागरण और नवजागरण की चेतना के बीच में है, 1857 की चेतना। लोक जागरण, 1857 और नवजागरण की चेतना की अंतर्संबंधों और अंतर्बद्धताओं का पुनर्अध्ययन अलग से और अधिक व्यापकता से किया जाना अपेक्षित है; यहाँ इतना ध्यान दिलाना ही पर्याप्त है कि मध्यकाल के लोकजागरण का राजनीतिक समाहार 1857 में हुआ। नवजागरण के राजनीतिक पक्ष को 1857 तो नहीं भाया इसके बावजूद नवजागरण की दीप्ति के आलोक में लोकजागरण की सांस्कृतिक आभा और बढ़ गई। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का गहरा संबंध नवजागरण के प्रमुखों से था। जाहिर है कि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी चिंता और चेतना का संदर्भ उनके इस गहरे जुड़ाव से तय होता था। क्या 1857 के हुए बिना नवजागरण को इतना अधिक राजनीतिक-प्रश्रय, शासकीय-संबल, बौद्धिक समर्थन और थोड़ा-बहुत भी सामाजिक प्रसार मिलना संभव था! इतिहास साक्षी है कि 1857 का बाह्य उपनिवेशी शक्तियों पर तो तीव्र असर हुआ ही आंतरिक उपनिवेशी शक्तियों पर भी इसका असर कम नहीं हुआ। यह भी ध्यान में रखना जरूरी है कि 1857 का नेतृत्व मुख्य रूप से उन समुदायों के सदस्यों के हाथ में था जिन समुदायों को आंतरिक उपनिवेश के लिए मुख्य रूप से जिम्मेवार माना जाता है जबकि 1857 का मुख्य शक्ति-स्रोत वे समुदाय थे जो मुख्य रूप से आंतरिक उपनिवेश के सामाजिक शिकार थे। 1857 के इस अंतर्विरोध को ध्यान में रखने पर, यह देखना और भी दिलचस्प हो सकता है कि नवजागरण के आलोक में विकसित होते भारतीय राष्ट्रवाद का राजनीतिक एजेंडा किस प्रकार बदल गया एवं किस प्रकार स्थानापन्न राष्ट्रवाद विकासमान ऐतिहासिक राष्ट्रवाद से अधिक प्रभावी बन गया। फिर भी सामाजिक मुक्ति और राजनीतिक स्वतंत्रता की आकांक्षा की जो लौ 1857 में जली उसका आलोक आंतरिक उपनिवेशन के शिकार बने समुदायों तक भी अवश्य पहुँची, ऐसा मानकर चलने में कोई बौद्धिक असंगति नहीं दिखती है। यह सच है कि इतिहास को लौटाया नहीं जा सकता है और न वर्त्तमान की प्रक्रियाओं को अतिक्रमित कर भविष्य को ही पाया जा सकता है लेकिन वर्त्तमान की चोट से बौखलाये लोगों में इतिहास और भविष्य की तरफ लपकने की प्रवृत्ति अवश्य सक्रिय हो जाती है। गौर किया जा सकता है कि 1857 के बाद इतिहास के प्रति बौद्धिक रवैया में क्या और कितना फर्क आया। इतिहास का संपूर्ण न तो मरा हुआ होता है और न इतिहास के लिए वर्त्तमान कोई वर्जित प्रदेश ही होता है। इतिहास यदि शव हो तो साहित्य कहाँ पलेगा? शव-गर्भ में! न तो इतिहास शव होता है और न इतिहास का अध्ययन ही शवसाधना

होती है। यह बात इतिहास के अंत की घोषणा करनेवलों की समझ में तो तब भी रही होगी और अब तो, दबे स्वर में ही सही, उनकी खुली आत्मस्वीकृतियाँ भी सामने आ रही है। इतिहास की तरफ आँख के घूमते ही भक्तिकाल--- जिसे सामाजिक क्रांति का युग माना जा सकता है--- की सामाजिक चेतना में राजनीतिक चेतना के संप्रसार का दृश्य भासमान होने लगता है। हिंदी क्षेत्र में यह संप्रसार उतनी तेजी से इसलिए नहीं हो पाया क्योंकि इस क्षेत्र की राजनीतिक प्रक्रिया पर 1857 का इतना अधिक राजनीतिक दबाव था कि एक ओर उसके पास भक्तिकाल की सामाजिक चेतना के कुमुक के इंतजार करने का समय नहीं था तो दूसरी ओर नवजागरण में अंतर्भुक्त लोकजागरण को स्वीकार करने का सामाजिक मन के बनने का अवसर भी नहीं था! नतीजा यह कि हिंदी क्षेत्र की राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रक्रिया का सामाजिक प्रक्रिया से विच्छिन्न हो जाना लगभग अनिवार्य-सा हो गया। इस विच्छिन्नता के कारण हिंदी क्षेत्र की बौद्धिकता विकलांगता की शिकार हो गई।

1.7 बौद्धिक अन-उपनिवेशन

अपनी बौद्धिकता के बल पर जिन लोगों ने आंतरिक उपनिवेश रचा था उनकी बौद्धिकता का उपनिवेशित हो जाना कितना त्रासद रहा होगा इसका अनुमान बहुत कठिन नहीं है। जिन शास्त्रों के ज्ञान पर इतना नाज था वे शास्त्र ही बेमानी हो गये थे! राजनीतिक पराभव का ऐसा बौद्धिक आघात कितना दुस्सह्य रहा होगा इसका भी अनुमान बहुत कठिन नहीं है। इसीलिए, औपनिवेशिक शक्ति के चंगुल से--- खासकर बौद्धिक एवं सांस्कृतिक औपनिवेशिकता के चंगुल से--- छुटकारा पाने के लिए बाह्य-औपनिवेशिक शासन के जड़ जमाने के पहले के बौद्धिक एवं सांस्कृतिक भारत की ओर देखना लाजिमी था। यही वह बिंदु है, जहाँ भारत का बौद्धिक एवं सांस्कृतिक अवस्थान इतिहास के जादुई प्रिज्म में कैद होता है। इस अवस्थान में ऐसे सामाजिक तत्त्व भी कम नहीं हैं जो बाहरी उपनिवेश के साथ ही आंतरिक उपनिवेश के होने की भी पुष्टि करते हैं। बाहरी उपनिवेश का मुकाबला राजनीतिक आंदोलनों से और भीतरी उपनिवेश का मुकाबला समाज-सुधार के आंदोलनों के जरिये होना था। आंतरिक उपनिवेश से मुक्ति के लिए समाज-सुधार के विभिन्न आंदोलनों की झलकियाँ इतिहास में दर्ज हैं। बल्कि कहना यह चाहिए कि आंतरिक उपनिवेश से मुक्ति के लिए भारत में समाज-सुधार के आंदोलन सदैव चलते रहे हैं--- ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण कभी सतह के ऊपर, तो कभी सतह के नीचे। हालाँकि, भारत की संस्कृति कहने से जो प्रमुख प्रतीति होती है, उसके प्रमुख बौद्धिक पक्ष का नि:शर्त्त समर्थन समाज-सुधार के आंदोलन को कम ही मिला है। इस सचाई को स्वीकारते हुए यह मानना पड़ेगा कि भक्ति-काल समाज-सुधार के आंदोलन और विरोध का सबसे प्रमुख काल है। भारतीय चिंता और चेतना को अंतर्वस्तु प्रदान करनेवाले चार मौलिक तत्त्वों की चर्चा की जाए तो उसमें आर्यों का मूल-स्थान, ब्राह्मण-वर्चस्व, बौद्ध-विमर्श और इस्लाम का अनुप्रवेश अनिवार्य रूप से शामिल रहेगा। इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में ही आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की इतिहास दृष्टि और उनके आलोचना विवेक को समझा जा सकता है।

2 ऐसा न हुआ होता, तब भी ऐसा ही हुआ होता

एक खास ऐतिहासिक परिस्थिति में विकसित इतिहास दृष्टि और आलोचना विवेक को दूसरी ऐतिहासिक परिस्थिति में विकसित इतिहास दृष्टि और आलोचना विवेक जब देखने-परखने की कोशिश करता है तो उनके निष्कर्षों में अंतर का आना स्वाभाविक है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अलोचनात्मक विवेक को देखने की कोशिश दरअसल अपने आलोचना विवेक को दुरुस्त करने की ही कोशिश है। मुझे इस बात का ध्यान है।

2.1 लोक के आचार-विचार और लोकभाषा की ओर पांडित्य का झुकाव

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इस्लाम के प्रमुख विस्तार को भारतीय इतिहास की अत्यधिक महत्त्वपूर्ण घटना तो मानते हैं किंतु फिर भी निष्कर्ष यही निकालते हैं कि भारतीय पांडित्य ईसा की एक सहस्राब्दी बाद आचार-विचार ओर भाषा के क्षेत्र में स्वभावत: ही लोक की ओर झुक गया था। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी रेखांकित करते हैं कि ऐसे राजा बहुत कम हुए जो संस्कृत अच्छी तरह समझ सकते हों। पेंच 'अच्छी तरह' में है; समझा जा सकता है कि जब 'राजा' का ही यह हाल था तो 'प्रजा' का क्या हाल रहा होगा। जब न 'राजा' संस्कृत जानता था, न 'प्रजा' संस्कृत जानती थी तब भी जनता में धर्म-प्रचार करने के लिए पुराणों को संस्कृत में लिखने की क्या विवशता थी? इस विवशता का पता नहीं चलता है। इस विवशता पर कोई साफ टिप्पणी नहीं करने की आचार्य की विवशता का भी पता नहीं चलता है! वे कहते हैं, 'संस्कृत की कविताएँ लोक-भाषा के द्वारा बोधगम्य करायी जाती थीं और इस प्रकार मूल कविता का स्वाद कुछ बाधा पाकर राजा और सामंत तक पहुँचता था, पर अपभ्रंश की कविता सीधे असर करती थी। ऐसे राजा बहुत कम हुए जो संस्कृत अच्छी तरह समझ सकते हों। इसका अवश्यंभावी परिणाम यह हुआ कि अपभ्रंश भाषा कविता का राजानुमोदित वाहन हो गयी। एक बार राजाश्रय पाकर वह बड़ी तेजी से चल निकली। यहाँ भी हम देखते हैं कि लोक-भाषा की ओर झुकाव स्वाभाविक रूप से ही हो चला था, किसी बाहरी शक्ति के कारण नहीं। ऊपर की बातों से अगर कोई निष्कर्ष निकाला जा सकता है तो वह यही हो सकता है कि भारतीय पांडित्य ईसा की एक सहस्राब्दी बाद आचार-विचार और भाषा के क्षेत्र में स्वभावत: ही लोक की ओर झुक गया था; यदि अगली शताब्दियों में भारतीय इतिहास की अत्यधिक महत्त्वपूर्ण घटना अर्थात इस्लाम का प्रमुख विस्तार न भी घटी होती तो भी वह इसी रास्ते जाता। उसके भीतर की शक्ति उसे इसी स्वाभाविक विकास की ओर ठेले लिये जा रही थी। उसका वक्तव्य विषय कथमपि विदेशी न था।'[4] अगर यह बात संगत है तो यह देखना दिलचस्प होगा कि खुद आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के पांडित्य का झुकाव किस तरफ था। एक ओर तो वे यह मानते हैं कि अपनी भू-सांस्कृतिक परिस्थितियों के चलते 'मध्यदेश' वैदिक युग से लेकर आज तक अतिशय 'रक्षणशील' और 'पवित्र्याभिमानी' रहा है। भिन्न विचारों और संस्कृतियों के निरंतर संघर्ष के कारण रक्षणशीलता और श्रेष्ठतत्त्वाभिमान ने इसकी प्रकृति में विचार में निरंतर परिवर्त्तित होते रहने के बावजूद अपने प्राचीन आचारों से चिपटे रहने को बद्धमूल कर दिया। दूसरी तरफ वे कहते हैं कि ईसा की एक सहस्राब्दी बाद विचार में ही नहीं आचार में भी और भाषा के क्षेत्र में भी लोक की ओर उसका झुकाव स्वाभाविक था। यदि अपने संस्कृत-अज्ञान के कारण 'राजा' का और पंडितों का झुकाव लोक की ओर हुआ तो राजा और पंडितों को लोक के 'आश्रय' में जाना पड़ा; यह नहीं कि लोक को पंडितों के या राज के आश्रय में जाना पड़ा। सहज निष्कर्ष यह होना चाहिए कि 'राजा' और 'पांडित्य' को लोकाश्रय की जरूरत थी, और वह उसे मिला! लेकिन, इस तरह की असहज कर देनेवाली सहज बातों को दबाकर उलट देना ही तो असल पांडित्य

होता है! ईसा की बीसवीं सदी और आजादी के बाद पांडित्य की यह मनोदशा है तो उसके आधार पर हजार वर्ष पहले की मनोदशा का अनुमान सहज ही किया जा सकता है।

2.2 फिर भी संस्कृत की महिमा अपरंपार

संस्कृत न राजा के लिए बोधगम्य था, न प्रजा के लिए व्यवहार्य लेकिन इसकी महिमा अपरंपार बनी हुई रही! हजारों पुश्त तक भारतवर्ष के सर्वोत्तम मस्तिष्क दिन-रात इसकी सेवा में लगे रहे! यद्यपि, ईसा की एक सहस्राब्दी बाद विचार में ही नहीं आचार में भी और भाषा के क्षेत्र में भी लोक की ओर उसका झुकाव हो गया था तथापि उसके लगभग एक हजार वर्ष बाद अर्थात आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के समय में भी सर्वोत्तम मस्तिष्क संस्कृत की सेवा में लगे हुए थे! अपनी उल्लेखनीय 'चिंता पारतंत्र्य' के बावजूद! असल में आचार्यों के दिमाग में यह बात सदैव जमी रही है कि संस्कृत में कम करनेवाला दिमाग ही सर्वोत्तम होता है। कुछ लोगों की कुछ-कुछ ऐसी ही धारणा आज अँगरेजी के बारे में है कि उत्तम मस्तिष्क अँगरेजी में ही काम कर सकता है, जनभाषाओं में उत्तम मस्तिष्क के लिए सम्मानजनक जगह ही कहाँ होती है! भगवान बन जाने के बाद बुद्ध का मुख, मुख नहीं रह गया होगा--- मुखारविंद हो गया होगा! भगवान के मुख से पालि का उच्चारण संदेह से परे तो हो ही नहीं सकता है! इसलिए, यह संदेह पांडित्योचित ही है कि उस युग की लोकभाषा कही जानेवाली पालि सचमुच ही बुद्धदेव के मुख से उच्चारित भाषा थी या नहीं। हालाँकि संतुलन बनाये रखने की विवशता थी इसलिए इतना तो पंडितों को स्वीकार ही पड़ा कि संस्कृत भाषा को इस युग में पहली बार एक प्रतिद्वंद्वी भाषा का सामना करना पड़ा था। लोक के आचार-विचार और भाषा के प्रति झुकाव को स्वाभाविक मानना और फिर यह कहना कि प्रियदर्शी महराज अशोक ने दृढ़ता के साथ लोकभाषा को प्रचारित करना चाहा था। जिस लोक भाषा की ओर स्वाभाविक झुकाव था, उस लोकभाषा को भी दृढ़ता से प्रचार के लिए प्रियदर्शी महराज अशोक जैसे सम्राट की जरूरत थी! वह साहित्य पंडितों के लिए स्वीकार्य प्रमाण कभी हो ही नहीं सकता जो यह कहता हो कि बुद्धदेव ने न सिर्फ लोकभाषा में उपदेश दिया था बल्कि निश्चित रूप से अपनी वाणी को संस्कृत में रूपांतरित किये जाने का निश्चित निषेध भी किया था। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, 'इस भाषा (संसकृत) में साहित्य की रचना कम-से-कम छह हजार वर्षों से निरंतर होती आ रही है। इसके लक्षाधिक ग्रंथों के पठन-पाठन और चिंतन में भारतवर्ष के हजारों पुश्त तक के करोड़ों सर्वोत्तम मस्तिष्क दिन-रात लगे रहे हैं और आज भी लगे हुए हैं। मैं नहीं जानता कि संसार के किसी देश में इतने काल तक, इतनी दूरी तक व्याप्त, इतने उत्तम मस्तिष्क में विचरण करनेवाली कोई भाषा है या नहीं। शायद नहीं है। फिर भी भाषा की समस्या इस देश में कभी उठी ही नहीं हो, सो बात नहीं है। भगवान बुद्ध और भगवान महावीर ने संस्कृत के एकाधिपत्य को अस्वीकार किया था, उन्होंने लोकभाषा को आश्रय करके अपने उपदेश प्रचार किये थे। ऐसा जान पड़ता है कि संस्कृत भाषा को इस युग में पहली बार एक प्रतिद्वंद्वी भाषा का सामना करना पड़ा था। जहाँ तक बौद्ध धर्म का संबंध है, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है कि उस युग की लोकभाषा कही जानेवाली पालि सचमुच ही बुद्धदेव के मुख से उच्चारित भाषा थी या नहीं। प्रियदर्शी महराज अशोक ने दृढ़ता के साथ लोकभाषा को प्रचारित करना चाहा था। इसका सबूत हमारे पास है और सीलोन तथा वर्मा आदि में प्राप्त पालि भाषा का बौद्ध साहित्य भी हमें बताता है कि बुद्धदेव ने सिर्फ इस लोकभाषा में उपदेश ही नहीं दिया था बल्कि निश्चित रूप से अपनी वाणी को संस्कृत में रूपांतर करने का निषेध भी किया था। यह साहित्य स्थविरवादियों का है जो कई बौद्ध संप्रदायों में से एक है। आधुनिक काल में बौद्ध साहित्य की जब चर्चा शुरू हुई थी तब इन पालि ग्रंथों को एक मात्र प्रमाण मान लिया गया था। और उस समय जो कुछ कहा गया था वह अब भी संस्कार रूप से बहुत से सुसंस्कृत जनों के मन पर रह गया है। परंतु सही बात यह है कि स्थविरवादियों का यह साहित्य विशाल बौद्ध साहित्य का एक अत्यंत अल्प अंशमात्र है। न तो वह एक मात्र बौद्ध साहित्य है, और न सर्वाधिक प्रामाणिक साहित्य ही है, न यही जोर देकर कहा जा सकता है कि यही सबसे अधिक पुराना साहित्य है। ..... बहुत पुराने काल में हीनयान और महायान दोनों ही प्रधान बौद्ध शाखाओं के ग्रंथ संस्कृत अर्द्ध-संस्कृत में लिखे जाने लगे थे। आज इनमें का अधिकांश खो गया है। ... इस प्रकार यद्यपि एक संप्रदाय की गवाही पर हम पालि को संस्कृत की प्रतिद्वंद्वी भाषा के रूप में पाते हैं, तथापि बहुत शीघ्र ही संस्कृत ने उस प्रतिक्रिया पर विजय प्राप्त कर ली थी। ... शुरू-शुरू में मुसलमान बादशाह भी इस भाषा की महिमा हृदयंगम कर सके थे। पठानों के सिक्कों से नागरी अक्षरों का ही नहीं, संस्कृत भाषा का भी अस्तित्व सिद्ध किया जा सकता है। परंतु बाद में जमाने ने पलटा खाया और अदालतों और राजकार्य की भाषा फारसी हो गयी। इस देश के बड़े समुदाय ने नाना कारणों से मुसलमानी धर्म का वरण किया और फलत: एक बहुत बड़े समुदाय की धर्मभाषा अरबी हो गयी। यह अवस्था अधिक से अधिक पाँच सौ वर्षों तक रही है। परंतु आप भूल न जाएँ कि इस समय भी भारतवर्ष की श्रेष्ठ चिंता का स्रोत संस्कृत के रास्ते ही बह रहा था। ... इस युग में यद्यपि संस्कृत ग्रंथों में से मौलिक चिंता बराबर घटती जा रही थी फिर भी वह एकदम लुप्त नहीं हो गयी थी। .... अर्थात हमारे छह सात हजार वर्ष के विशाल इतिहास में अधिक से अधिक पाँच सौ वर्ष ऐसे रहे हैं जिनमें अदालतों की भाषा संस्कृत न होकर एक विदेशी भाषा रही है। दुर्भाग्यवश इस सीमित काल और सीमित अंश में व्यवहृत भाषा का दावा आज हमारी भाषा समस्या का सर्वाधिक जबर्दस्त रोड़ा साबित हो रहा है। ....इस विशाल देश की भाषा समस्या का हल आज से सहस्रों वर्षों पूर्व से लेकर अब तक जिस भाषा के जरिये हुआ है उसके सामने कोई भी भाषा न्यायपूर्वक अपना दावा लेकर उपस्थित नहीं रह सकती--- फिर वह स्वदेशी हो या विदेशी, इस धर्म के माननेवालों की हो या उस धर्म के। इतिहास साक्षी है कि संस्कृत इस देश की अद्वितीय महिमाशालिनी भाषा है--- अविजित, अनाहत और दुर्द्धर्ष।'[5]

पंडितों ने सिर्फ बुद्ध को ही भगवान नहीं बनाया बल्कि बुद्धवाणी को भी वेद बनाना चाहा--- संस्कृत में ढालकर। बार-बार यह बात महसूस की जाती रही है कि इस क्रम में बुद्ध तो बहुत हद तक भगवान विष्णु बना दिये गये, लेकिन बौद्धों को किसी न्यूनतम हद तक भी वैष्णव नहीं माना गया! अद्भुत बौद्धिक विचक्षणता का उदाहरण है यह कहना कि शंकराचार्य के तत्त्ववाद की पृष्ठ-भूमि में बौद्ध तत्त्ववाद अपना रूप बदलकर रह गया। असल बात तो यही हो सकती है कि शंकराचार्य ने बौद्ध तत्त्ववाद को बौद्धिक रूप से आच्छादित कर लिया। किसी भी ब्राह्मण-विरोधी विचार को 'देश की अद्वितीय महिमाशालिनी--- अविजित, अनाहत और दुर्द्धर्ष'--- भाषा संस्कृत में ढालकर उनके ब्राह्मणीकरण के बाद सामाजिक परिस्थिति के अनुकूलन में उपयोग करने, संरक्षित कर लेने की प्रविधि पंडितों के लिए बहुत कारगर रही है। असल में 'देश की अद्वितीय महिमाशालिनी, अविजित, अनाहत और दुर्द्धर्ष' भाषा को न राजा समझता था न प्रजा--- शास्त्रों में निहित विचारों की मनमानी व्याख्या के लिए यह भाषा धोखे की ऐसी टट्टी बनाती थी जिसमें हर

प्रभुत्व-संपन्न को अपना हित सुरक्षित दिखता था! बुद्ध को इस खतरनाक 'पंडित प्रविधि' के चाल-चरित का ज्ञान जरूर रहा होगा तभी उन्होंने संस्कृत में अनुवाद का निषेध किया होगा। इस तरह, 'बौद्ध धर्म का इस देश से जो निर्वासन हुआ उसके प्रधान कारण शंकर, कुमारिल और उदयन आदि वैदांतिक और मीमांसक आचार्य माने जाते हैं।' यह कैसा मंतव्य है कि धार्मिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों में अभूतपूर्व क्रांति बौद्ध-धर्म के उद्भव के कारण उत्पन्न नहीं हुई! आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं, 'असल में बौद्ध-धर्म के उच्छेद और ब्राह्मण-धर्म की पुन:स्थापना से भारत की धार्मिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों में अभूतपूर्व क्रांति उत्पन्न हो गयी।' यह क्रांति, नहीं अभूतपूर्व क्रांति बौद्ध-धर्म के उद्भव से नहीं बौद्ध-धर्म के उच्छेद और ब्राह्मण-धर्म की पुन:स्थापना से हुई! इसी तरह के 'निश्च्छल आत्म-विश्वास' के साथ ब्राह्मण-धर्म की विशेषता को भारतवर्ष के साहित्य की एक निश्चित विशेषता के रूप में स्थापित करने की भी कोशिश की गई है! आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की स्थापना है, 'सारे संसार की अपेक्षा भारतवर्ष के साहित्य की एक निश्चित विशेषता है और विशेषता का कारण एक भारतीय विश्वास है। यह है पुनर्जन्म और कर्मफल का सिद्धांत। प्रत्येक पुरुष को अपने किये का फल भोगना ही पड़ेगा। ... पुनर्जन्म का सिद्धांत वैसे तो खोजने पर अन्यान्य देशों में भी किसी न किसी रूप में मिल जा सकता है, परंतु कर्मफल-प्राप्ति का सिद्धांत कहीं भी नहीं मिलता।'[6] तो जो विचार और साहित्य इस 'पुनर्जन्म और कर्मफल सिद्धांत' को नहीं माने उसे भारतीय मानने में ही झिझक स्वाभाविक है! यह है ऐतिहासिक विवेक और आलोचना दृष्टि!

2.3 चिंता पारतंत्र्य और पर का मतलब

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के सामने दो बड़ी चुनौती थी--- पहली यह कि बुद्ध एवं महावीर के उद्भव के बाद ब्राह्मण-विरोध का जो ऐतिहासिक, दार्शनिक और सामाजिक वातावरण बना था उसके समग्र प्रभाव से बाहर निकलने के लिए ब्राह्मणों के द्वारा अपनाये गये कौशलों का औचित्य संस्थापन एवं महत्त्व-निर्धारण दूसरी यह कि इस्लाम के संसर्ग के प्रभाव से उत्पन्न ऐतिहासिक, दार्शनिक और राजनीतिक वातावरण में उस औचित्य-संस्थापन एवं महत्त्व-निर्धारण की प्रक्रिया के क्षरण को रोकना। अर्थात, 'बौद्ध-धर्म के उच्छेद और ब्राह्मण-धर्म की पुन:स्थापना से भारत की धार्मिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों में जो अभूतपूर्व क्रांति' उत्पन्न हुई थी उसकी लौ को बचाने की चुनौती थी! अपनी इसी ऐतिहासिक चुनौती के अंतर्गत भक्ति-साहित्य की व्याख्या की आलोचना दृष्टि उन्होंने विकसित की। 'मुसलमानों के आने के पहले इस देश में कई ब्राह्मण-विरोधी संप्रदाय थे। बौद्ध और जैन तो प्रसिद्ध ही हैं। कापालिकों, लाकुलपाशुपतों, वामाचारियों आदि का बड़ा जोर था। नाथों और निरंजनियों की अत्यधिक प्रबलता थी। बाद के साहित्य में इन मतों का बहुत थोड़ा उल्लेख मिलता है। दक्षिण से भक्ति की जो प्रचंड आँधी आई, उसमें ये सब मत बह गए। पर क्या एकदम मिट गए? लोकचित्त पर से क्या वे एकदम झड़ गए? हिंदी, बँगला, मराठी, उड़िया आदि साहित्यों के आरंभिक काल के अध्ययन से इनके बारे में बहुत-कुछ जाना जा सकता है।'[7] ब्राह्मण-विरोधी संप्रदाय--- जिनमें बौद्ध और जैन भी शामिल हैं--- दक्षिण से आई भक्ति की प्रचंड आँधी में 'बह' गये! यह तो हद ही है! या फिर क्या पता कोई उलटबाँसी ही हो!

2.4 प्रतिभा का प्रमाण

पंडित थे तो बुद्धि और प्रतिभा तो होनी ही थी! आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि चिंता-पारतंत्र्य 'मुसलमानी धर्म' के जन्म के बहुत पहले सिर उठा चुका था! 'पर' के साथ ऐसी भाषा का प्रयोग करने में पांडित्य को कभी हिचक नहीं होती है। 'असल में जो कुछ लिखा गया उसमें बुद्धि और प्रतिभा का तो काफी विकास हुआ, परंतु यह निश्चित रूप से विश्वास कर लिया गया कि यह ज्ञान प्राचीनों के ज्ञान से निम्न कोटि का है। इसी मनोवृत्ति का परिणाम है कि प्रत्येक वैष्णव आचार्य को अपने मतवाद की पुष्टि के लिए प्रस्थान-त्रयी अर्थात बादरायण का ब्रह्मसूत्र, उपनिषद और गीता का सहारा लेना पड़ा। यह एक व्यापक भाव फैला हुआ-सा जान पड़ता है कि बिना इसका सहारा लिये कोई मतवाद टिक ही नहीं सकता। ईसा की पहली सहस्राब्दी में ही इस मनोभाव ने जड़ जमा ली थी और वह उत्तरोत्तर बद्धमूल होता गया। यहाँ स्मरण कर लेना अप्रासंगिक नहीं होगा कि यह चिंता-पारतंत्र्य मुसलमानी धर्म के जन्म के बहुत पहले सिर उठा चुका था और परवर्त्ती हिंदी साहित्य में इसके उग्र रूप को देखकर यह कहना कि यह विदेशी शासन की प्रतिक्रिया थी, बिल्कुल गलत होगा। असल में, वह कोई और कारण होना चाहिए जिसने भारतीय चिंता में इस चिंता-पारतंत्र्य को जन्म दिया, विदेशी आक्रमण नहीं।'[8] क्या उस युग में प्रस्थान-त्रयी अर्थात बादरायण का ब्रह्मसूत्र, उपनिषद और गीता का सिर्फ सहारा लिया जा रहा था? कोई चुनौती नहीं दी जा रही थी? यह संभव तो नहीं है। तब यह जरूर संभव है कि जो प्रस्थान-त्रयी अर्थात बादरायण के ब्रह्मसूत्र, उपनिषद और गीता का सहारा नहीं लेता होगा उसे पंडितों के समकक्ष मानने का 'औचित्य' नहीं रहा होगा। आचार्य लोग आज भी नहीं मानते, तब की तो बात ही और थी! आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि 'वस्तुत: परवर्ती काल में समस्त भारतीय चिंतन और आचरण के निर्णायक के रूप में गीता, ब्रह्मसूत्र और उपनिषदों को ही प्रमाण माना गया है। इन्हीं को 'प्रस्थानत्रयी' कहते हैं। दर्शन के क्षेत्र में अर्थात जीव और ब्रह्म का स्वरूप, उनका संबंध, माया या ब्रह्म-शक्ति के व्यापार आदि बातों में मतभेद बराबर बने रहे, परंतु संपूर्ण जीवन के प्रति जो व्यापक दृष्टि है वह बारबर एक-सी बनी रही। बौद्ध और जैन परंपरा के अभ्युदय से भी उस जीवनदृष्टि में कोई खास फर्क नहीं पड़ा। केवल दीर्घ अनुभव और तदनुकूल परिष्कृत धर्माचार के इस पक्ष या उस पक्ष पर बले देने के कारण इनके स्वरूप में कुछ अंतर दिखाई देता है।'[9] क्या अद्भुत निष्कर्ष है -- बौद्ध और जैन परंपरा के अभ्युदय से भी उस जीवनदृष्टि में कोई खास फर्क नहीं पड़ा। इस निष्कर्ष को ठीक माना जाये तो भक्तिकाल में व्याप्त शास्त्र और लोक के द्वंद्व एवं जीवनदृष्टि को किस तरह व्याख्यायित किया जा सकेगा!

2.5 लोकभाषा को राजकीय सम्मान

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के सामने इस्लाम के आगमन के सांस्कृतिक प्रभाव को न्यून और अंततत: अदृश्य साबित कर देने की चुनौती थी। इसके लिये सांस्कृतिक बहिष्करण की सामाजिक प्रक्रिया की वास्तविकता को सांस्कृतिक समूलियत या नत्थीकरण की काल्पनिक प्रक्रिया से आच्छादित करना जरूरी था। समाज में साफ दिखनेवाली स्थिति को अदृश्य बनाना शास्त्र में अदृश्य बनाने जितना आसान नहीं होता है। सत्ता और शास्त्र पर कब्जा

करना जितना आसान होता है समाज पर कब्जा करना उतना आसान नहीं होता है। समाज में समूलियत के लक्षणों को अदृश्य बनाना संभव नहीं था इसलिए सत्ता और शास्त्र में इसे अदृश्य करने का प्रयास ही एक मात्र रास्ता हो सकता था, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इसी रास्ते का अनुसरण करते हैं। ब्राह्मण यदि संस्कृत के अलावे किसी अन्य भाषा का आश्रय लेता है तो वह अपने को छोटा क्यों समझेगा! छोटे- बड़े का स्थान भाषा के व्यवहार से नहीं सामाजिक अवस्थान से तय होता है। इन कवियों के सामाजिक अवस्थान से बात स्वत: साफ हो सकती है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, 'इस देश में मुसलमानी सत्ता की प्रतिष्ठा के बहुत पूर्व से ही निश्चित रूप से लोकभाषा को राजकीय सम्मान प्राप्त हो चला था। जैसा कि पहले ही कहा गया है, इस संपूर्ण साहित्य में ऐसा कोई कवि नहीं मिलता जिससे यह सिद्ध हो सके कि लोकभाषा में लिखने के कारण कोई कवि अपने को छोटा समझ रहा हो। पृथ्वीराज का दरबारी कवि चंद बलिय (चंद वरदाई) हिंदी भाषा का आदि कवि माना जाता है। असल में यह अपभ्रंश का अंतिम कवि अधिक है और हिंदी का आदि कवि कम। .....असल में अपभ्रंश भाषा में काव्य-रचना चौदहवीं पंद्रहवीं शताब्दी तक होती रही, यद्यपि इसके बहुत पहले ही उसने नयी भाषा को स्थान दे दिया था। विद्यापति ने पूर्व देश में एक ही साथ तत्काल प्रचलित लोक-भाषा और अपभ्रंश दोनों में काव्य लिखा था। यहाँ एक बात विचारणीय रह जाती है। यदि आधुनिक भाषा में इन अपभ्रंशों का स्वाभाविक विकास है तो क्या कारण है कि इनमें इतनी अधिकता से संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग होता है जबकि अपभ्रंश के काव्यों में खोजने पर भी संस्कृत के शब्द अपने मूल रूपों में नहीं मिलते? मेरा तात्पर्य वर्तमान भाषा से नहीं बल्कि सूरदास-तुलसीदास आदि की प्राचीन काव्यभाषा से है। केवल पुस्तकगत भाषा में ही नहीं, उन दिनों में प्रचलित बोलचाल की भाषा में भी संस्कृत तत्सम शब्द अपभ्रंश भाषाओं की अपेक्षा अधिक मात्रा में बोले जाते थे। ऐसा न होता, तो कबीर और दादू की भाषा में तत्सम शब्दों के प्रयोग नहीं मिलते। निश्चय ही मुसलमानों ने इन शब्दों का प्रचार नहीं किया था। असल में बौद्ध-धर्म के उच्छेद और ब्राह्मण-धर्म की पुन:स्थापना से भारत की धार्मिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों में अभूतपूर्व क्रांति उत्पन्न हो गयी। बौद्ध धर्म का प्रसार साधारणत: विदेशियों में ही अधिक हुआ, क्योंकि सनातन आर्य धर्म वेद को प्रामाण्य मानता था पर बौद्ध और जैन-धर्म नहीं इसलिए वे विदेशियों के लिए अधिक ग्राह्य हो सके। जैन-धर्म का प्रभाव भी अधिकांश में शक, हूण आदि विदेशागत अधिवासियों पर ही पड़ा होगा, जो धीरे-धीरे इस देश में क्षत्रियत्व और वैश्यत्व का पद प्राप्त करने लगे थे। सन् ईसवी के आठ-नौ सौ वर्ष बीतने पर इस देश में प्राचीन वैदिक धर्म बड़े जोरों से उठ खड़ा हुआ था। इस समय के ऐसे बड़े-बड़े राजे, जो अधिकांश में क्षत्रियत्व का पद प्राप्त करने के प्रयासी रहे होंगे, ब्राह्मण आचार्यों के प्रभाव में आते गये और इस प्रकार संस्कृत भाषा को बहुत बल मिला। जनता में धर्म-प्रचार करने के लिए पुराणों की सहायता ली गयी। वे संस्कृत में लिखे गये थे। कथावाचक इनकी व्याख्या लोकभाषा में करते होंगे, पर उनकी भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों की अधिकता रही होगी। फिर, जैसा कि श्री चिंतामणि विनायक वैद्य ने कहा है, इसी समय संस्कृत भाषा के प्रचार में शंकर मत की विजय से सहायता मिली होगी। शंकराचार्य का उत्कर्ष ईसा की आठवीं शताब्दी के आसपास हुआ। उनके मत की छाप सर्वसाधारण पर पड़ी। उक्त मत का प्रसार संस्कृत भाषा के द्वारा ही होने के कारण सर्वसाधारण की भाषा में संस्कृत शब्द आ गये और धीरे-धीरे संस्कृत से हिंदी, बंगाली, मराठी, गुजराती आदि संस्कृत प्रचुर भाषाएँ बनीं। तमिल आदि भाषाओं का इतिहास भी ऐसा ही है। इसलिए तुलसीदास और सूरदास की भाषाओं में संस्कृत शब्दों की प्रचुरता होना, अपभ्रंश भाषाओं के स्वाभाविक विकास के विरुद्ध नहीं ले जाता और न इससे उनमें किसी प्रकार की प्रतिक्रिया का भाव ही सिद्ध होता है।'[10] यह मानना कि बौद्ध-धर्म के उच्छेद और ब्राह्मण-धर्म की पुन:स्थापना से भारत की धार्मिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों में कोई क्रांति उत्पन्न हो गयी या यह मानना कि बौद्ध धर्म का प्रसार साधारणत: विदेशियों में ही अधिक हुआ, अपनेआप में असंगत और इतिहास-विरोधी है। सिर्फ इसलिए कि सनातन आर्य धर्म वेद को प्रामाण्य मानता था पर बौद्ध और जैन-धर्म नहीं मानते थे, इसलिए वे विदेशियों के लिए अधिक ग्राह्य हो सके--- यह बात समझ से परे है। इस देश में 'क्षत्रियत्व' और 'वैश्यत्व' का पद देना बौद्ध और जैन-धर्म के हाथ में तो था नहीं फिर उनके प्रभाव में आये शक, हूण आदि विदेशागत अधिवासी कैसे धीरे-धीरे इस देश में क्षत्रियत्व और वैश्यत्व का पद प्राप्त करने लगे! यह ठीक है कि सन् ईसवी के आठ-नौ सौ वर्ष बीतने पर शंकराचार्य के आगमन के बाद प्राचीन वैदिक धर्म एक बार फिर उठने की कोशिश करता है, बड़े जोरों से उठ खड़ा नहीं हो जाता है! कहना न होगा कि प्राचीन वैदिक धर्म मूलत: शास्त्र-मत पर आधारित था जबकि सन् ईसवी के हजार वर्ष बाद सभी संप्रदाय, शास्त्र और मत लोकमत में घुलने को बाध्य हुए। 'महायान संप्रदाय या यों कहिए कि भारतीय बौद्ध संप्रदाय, सन् ईसवी के आरंभ से ही लोकमत की प्रधानता स्वीकार करता गया, यहाँ तक कि अंत में जाकर लोकमत में घुल-मिलकर लुप्त हो गया। सन् ईसवी के हजार वर्ष बाद तक यह अवस्था सभी संप्रदायों, शास्त्रों और मतों की हुई। मुसलमानों के संसर्ग से उसका कोई संपर्क नहीं है। हजार वर्ष पहले से वे ज्ञानियों और पंडितों के ऊँचे आसन से नीचे उतरकर अपनी असली प्रतिष्ठाभूमि लोकमत की ओर आने लगे। उसी की स्वाभाविक परिणति इस रूप मे हुई। उसी स्वाभाविक परिणति का मूर्त प्रतीक हिंदी साहित्य है।'[11] लोकमत में घुलना-मिलना क्या लुप्त हो जाने का प्रमाण हो सकता है? लोकमत में घुलने से जहाँ लोक-चित्त में बदलाव आया वहीं शास्त्र के आत्म-चरित में भी कम बदलाव नहीं आया। यह शास्त्र के आत्म-चरित में बदलाव का ही परिणाम है कि बौद्ध धर्म का उच्छेदक माने जानेवाले खुद शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध कहा गया। यह कैसे हुआ? असल में शंकराचार्य ने बौद्ध तत्त्ववाद के मूलांश का बहुत ही कुशलता से वैदिकीकरण किया इससे बौद्ध धर्म को वैदिक परिधि में समेट लेना संभव हुआ! पंडितों की नजर से यह बात छिपी कैसे रह सकती थी! जिस भक्ति की इतनी महिमा बताई जाती है, शंकराचार्य का मत उस भक्ति का समर्थन नहीं करता है। इस बात को स्वीकार करते हुए भी आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी भक्ति-आंदोलन के सूत्रपात का प्रेय और श्रेय शंकराचार्य को देते हैं; यह सीधे संभव नहीं था, तो उलटकर ही सही! आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि 'असल में दक्षिण का वैष्णव मतवाद ही भक्ति आंदोलन का मूल प्रेरक है। बारहवीं शताब्दी के आसपास दक्षिण में सुप्रसिद्ध शंकराचार्य के दशवनार्क मत अद्वैतवाद की प्रतिक्रिया शुरू हो गई थी। अद्वैतवाद में, जिसे बाद के विरोधी आचार्यों ने मायावाद भी कहा है, जीव और ब्रह्म की एकता भक्ति के लिए उपयुक्त नहीं थी, क्योंकि भक्ति के लिए दो चीजों की उपस्थिति आवश्यक है, जीव की और भगवान की। प्राचीन भागवत धर्म इसे स्वीकार करता था। दक्षिण के अलवार भक्त इस बात को मानते थे। इसलिए बारहवीं शताब्दी में जब भागवत धर्म ने नया रूप ग्रहण किया तो सबसे अधिक विरोध मायावाद का किया गया।' [12] यह ठीक है कि 'प्राचीन भागवत धर्म इसे स्वीकार करता था', लेकिन 'प्राचीन भागवत धर्म' के प्रचारित और प्रचलित होने में बुद्ध के वैष्णवीकरण और इस प्रकार से बौद्ध धर्म का जो योगदान था उसकी चर्चा खुले मन से और सीधे-सीधे न करना किस प्रकार के ऐतिहासिक विवेक और सत्य का निदर्शन करता है! सत्य तो 'अश्वत्थामा हतो' में भी निहित था, मगर क्या सचमुच था! राजनीति का विवेक भले ही अर्द्धसत्य को मूल्यवान मानता हो, लेकिन आलोचना का विवेक!

3 हिंदू और बौद्ध

वैदिक एवं बौद्ध धर्म के संबंधों को सही परिप्रेक्ष्य में समझे बिना भारतीय संस्कृति को रत्ती भर भी जानना संभव नहीं है। संबंधों पर विचार तो बहुत हुआ है, स्वीकार और अस्वीकार का साहस भी बहुत दिखाया गया है, फिर भी ऐसा कुछ कपच लिया जाता है कि बस सही परिप्रेक्ष्य नहीं मिल पाता है। ईमानदारी से इन संबंधों को समझने और इनकी जटिलताओं को खोलने का सांस्कृतिक प्रयास किया जाता तो भारत की बहुतेरी सामाजिक समस्याओं का समाधान का रस्ता स्वत: हो साफ जाता। असल में ऐसा नहीं हुआ तो उसके लिए राजनीतिक कारण ही जबावदेह हैं।

3.1 टकराव और द्वंद्व

जो लोग भारत की सामाजिक समस्याओं को राजनीतिक समस्या मानते हैं, वे कदाचित रोग को अधिक सही ढंग से समझते हैं! बौद्ध धर्म के अवदान को सहज मन से स्वीकारने के लिए सत्ता और शास्त्र से जुड़ा बौद्धिक प्रभुवर्ग कभी तैयार न हुआ। बौद्ध धर्म को हमेशा के लिए 'द अदर' बनाये रखने और सांस्कृतिक संघर्ष का वातावरण बनाये रखकर समाज में हितों के टकराव समूहों को सक्रिय रखने में ही उसकी दिलचस्पी रही। 'बाँटो और राज करो' जैसे सिद्धांत का अंग्रेजों ने इस देश में न सिर्फ इस्तेमाल किया बल्कि इस सिद्धांत की उच्च तकनीक भी उन्होंने यहीं सीखी। इस देश से बौद्धों का निर्वासन हुआ या इस देश की मूल चेतना में बौद्ध दर्शन का अंतरलयन हुआ! आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, 'बौद्ध धर्म का इस देश से जो निर्वासन हुआ उसके प्रधान कारण शंकर, कुमारिल और उदयन आदि वैदांतिक और मीमांसक आचार्य माने जाते हैं। .....पर उन्होंने निचले स्तर के आदमियों में जो प्रभाव छोड़ा था, उसमें नाम-रूप का परिवर्त्तन हुआ, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार शंकराचार्य के तत्त्ववाद की पृष्ठ-भूमि में बौद्ध तत्त्ववाद अपना रूप बदलकर रह गया। बड़े-बड़े बौद्ध मठों ने शैव मठों का रूप लिया और करोड़ों की संख्या में जनता आज भी उन मठों के महंतों की पूजा करती आ रही है।'[13] जहाँ-जहाँ बौद्ध मठों पर शैव मठों के रूप में कब्जा संभव हुआ या जहाँ-जहाँ वैदिक धर्म के परिसर में अंतर्भुक्त भागवत धर्म के रूप में प्रकट होने में सफल हो सका वहाँ-वहाँ वह नाम-रूप बदलकर जीवित रह सका। ध्यान में होना ही चाहिए कि बुद्ध के प्रभाव के कारण ही 'उपेंद्र' (विष्णु) इंद्र से बड़े हो गये! जहाँ आर्यों का प्रभाव अधिक था वहाँ बुद्ध मत को सफलतापूर्वक दबा दिया गया लेकिन जहाँ आर्यों का दबदबा नहीं था वहाँ सहअस्तित्व कायम हो सका। इसलिए, 'नेपाल में इन दिनों जो बौद्ध धर्म वर्तमान है, वह बहुत कुछ उसी ढंग का होना चाहिए जैसा कि किसी समय वह बंगाल और मगध में रहा होगा। नवीं और दसवीं शताब्दियों में नेपाल की तराइयों में शैव और बौद्ध साधनाओं के सम्मिश्रण से नाथपंथी योगियों का एक नया संप्रदाय उठ खड़ा हुआ। यह संप्रदाय काल-क्रम से हिंदीभाषी जनसमुदाय को बहुत दूर तक प्रभावित कर सका था। कबीरदास, सूरदास और जायसी की रचनाओं से जान पड़ता है कि यह संप्रदाय उन दिनों बड़ा प्रभावशाली रहा होगा। सन् 1324 में तिरहुत का एक राजा मुसलमानों से खदेड़ा जाकर नेपाल में जा पहुँचा। वह अपने साथ अनेक पंडितों और ग्रंथों को भी लेता गया। उसका राज्य वहाँ बहुत दिनों तक स्थिर तो नहीं रह सका, पर उसके, द्वारा ब्राह्मण धर्म का जो बीजारोप हुआ वह आगे चलकर बहुत विकासशील सिद्ध हुआ। परवर्ती राजा जयस्थिति ने इन्हीं ब्राह्मणों की सहायता से समाज का पुन:संगठन किया। इस प्रकार नेपाल के राजघराने के प्रयत्न से गुरखा लोग, जो वहाँ के प्रधान वाशिंदे थे, अपने प्राचीन धर्म को फिर से ग्रहण करने में समर्थ हुए, पर नेवारी लोग बौद्ध ही बने रहे। इस नेपाली बौद्ध धर्म का प्रधान रूप है 'आदि-बुद्ध' की पूजा। आदि-बुद्ध बहुत कुछ हिंदुओं के भगवान के समान ही हैं। यह लक्ष्य करने की बात है कि नेपाल के ब्राह्मण बौद्ध धर्म को शत्रु दृष्टि से नहीं देखते। नेपाल-माहात्म्य के अनुसार जो बुद्ध की पूजा करता है वह शिव की ही पूजा करता है। इसी प्रकार नेपाली बौद्धों का स्वयंभू-पुराण पशुपतिनाथ की पूजा को बुद्ध की ही पूजा मानता है। बहुत संभव है कि काशी और मगध के प्रांतों में भी अंतिम दिनों में बौद्ध और पौराणिक धर्मों का पारस्परिक संबंध ऐसा ही रहा हो।'[14] इस प्रकार भक्ति के साथ बौद्ध धर्म का गहरा संबंध साबित है। ऐसी स्थिति में यह मानना चाहिए कि भक्ति और धर्म में एक प्रकार का द्वंद्वात्मक रिश्ता रहा है। इस द्वंद्व को नजरअंदाज करना ऐतिहासिक विवेक का नहीं ऐतिहासिक चूक का ही उदाहरण हो सकता है।

3.2 बौद्धों का नजरिया

जहाँ तक बौद्धों की बात है, वे टकराव की मन:स्थिति में तो तब भी नहीं थे जब उन्हें सशक्त राजसमर्थन हासिल था। डॉ. सर्वेपल्लि राधाकृष्णन् धर्मों की आधारभूत अंतर्दृष्टि पर विचार करते हुए कहते हैं कि 'अशोक ने अपने शासन-काल के दसवें (260 ई.पू.) वर्ष में बौद्ध धर्म को अंगीकार किया था और तब से जीवन के अंत तक वह बुद्ध का अनुयायी रहा। यह उसका व्यक्तिगत धर्म था और उसने प्रजा को इस धर्म में परिवर्तित करने का प्रयत्न नहीं किया।'[15] आगे (नीकम एवं मैककियोन के संदर्भ से) 'एडिक्ट्स आफ अशोक' , शिलालेख- 12 में अशोक की घोषणा का वे उल्लेख करते हैं। इस उल्लेख के अनुसार, 'सम्राट प्रियदर्शी इच्छा करते हैं कि सभी धर्मों के अनुयायी एक दूसरे के सिद्धांतों को जानें और उचित सिद्धांतों की उपलब्धि करें। जो इन विशिष्ट मतों से संबद्ध हैं, उनसे कह दिया जाना चाहिए कि सम्राट प्रियदर्शी उपहारों एवं उपाधियों को इतना महत्त्व नहीं देते, जितना उन गुणों की वृद्धि को देते हैं जो सभी धर्मों के आदमियों के लिए आवश्यक है।'[16] अपनी इस समवायी दृष्टि--- इसका प्रमाण कबीर समेत संपूर्ण निर्गुण परंपरा में आश्चर्यजनक रूप से मिलता है--- के बावजूद बौद्ध परंपरा निरंतर आक्रांत की जाती रही है! कबीरदास की तुलना में तुलसीदास को समन्वय का बहुत अधिक श्रेय आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने दिया है, लेकिन तुलसीदास और कबीरदास के समन्वय के चरित्र पर विचार ही नहीं किया है! सांस्कृतिक और ऐतिहासिक रूप से देखा जाये तो तुलसीदास के समन्वय से कबीरादस के समवाय का आकाश अधिक विस्तृत है। (देखें 7.3)

3.3 आक्रांत और आक्रांता

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, 'जिन दिनों हिंदी साहित्य का जन्म हो रहा था उन दिनों भी बंगाल और मगध तथा उड़ीसा में बड़े-बड़े बौद्ध विहार विद्यमान थे, जो अपने मारण, मोहन, वशीकरण और उच्चाटन की विद्याओं से और नाना प्रकार के रहस्यपूर्ण तांत्रिक अनुष्ठानों से जनसमुदाय पर अपना प्रभाव फैलाते रहे। नेपाल में तो अब भी बौद्ध धर्म किसी-न-किसी रूप में प्राप्त हो जाता है, पर अत्यंत हाल में बंगाल, उड़ीसा, और मयूरभंज की

रियासत में बौद्ध गृहस्थों के दल पाये गये हैं। कहा जाता है कि जगन्नाथ का मंदिर पहले बौद्धों का था, बाद में बुद्ध मूर्त्ति के सामने किसी वैष्णव राजा ने एक दीवार खड़ी कर दी और इन दिनों जिसे जगन्नाथ ठाकुर की मूर्त्ति कहते हें वह भी बुद्धदेव के अस्थि रखने के पिटारे के सिवा और कुछ नहीं है! उड़ीसा का महिमा संप्रदाय, बंगाल के रमाई पंडित का शून्य पुराण, वीरभूमि में पाई जानेवाली धर्मपूजा आदि बातें भी आज भी इन प्रदेशों में बौद्ध धर्म के भग्नावशेष हैं।'[17] यदि जगन्नाथ का मंदिर बौद्धों का था और जिसे जगन्नाथ ठाकुर की मूर्त्ति कहते हैं वह भी बुद्धदेव के अस्थि रखने के पिटारे के सिवा और कुछ नहीं है, तो इसका भी दोष क्या मुसलमानों के मत्थे मढ़ दिया जाना चाहिए! इतिहास का यह कौन-सा विवेक है जो यह स्थापित करना चाहता है कि 'मगध और बंगाल में मुसलमानी धर्म के आक्रमण से बौद्ध और हिंदू मंदिर समान रूप से आक्रांत हुए; मंदिरों, मठों और विहारों को समान भाव से ध्वस्त किया गया। फिर भी पौराणिक धर्म बच गया, बौद्ध नहीं बच सका; क्योंकि पहले का संबंध उन दिनों समाज से था और दूसरे का केवल विहारों से।'[18] क्या सचमुच बौद्ध धर्म का संबंध केवल विहारों से था! समाज से नहीं था! ऐसा होता तो मध्ययुग के हिंदी साहित्य के उस अंग पर अपना निश्चित और अमिट पद-चिह्न कैसे छोड़ पाता, जिसे 'संत-साहित्य' नाम दिया गया है! आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, 'बौद्ध तत्त्ववाद, जो निश्चित ही बौद्ध आचार्यों की चिंता की देन था, मध्ययुग के हिंदी साहित्य के उस अंग पर अपना निश्चित पद-चिह्न छोड़ गया है, जिसे 'संत-साहित्य' नाम दिया गया है। .....शास्त्र-सापेक्ष भक्तों के अवतारवाद का जो रूप है, उस पर महायान संप्रदाय का विशेष प्रभाव है। यह बात नहीं कि प्राचीन हिंदू-चिंता से उसका संबंध एकदम हो ही नहीं, पर सूरदास, तुलसीदास आदि भक्तों में उसका जो स्वरूप पाया जाता है, वह प्राचीन चिंताओं से कुछ ऐसी भिन्न जाति का है कि एक जमाने में ग्रियर्सन, कनेडी आदि पंडितों ने उसमें ईसाईपन का आभास पाया था! उनकी समझ में नहीं आ सका था कि ईसाई धर्म के सिवा उस प्रकार के भाव और कहीं से मिल सकते हैं। लेकिन आज शोध की दुनिया बदल गयी है। ईसाई धर्म में जो भक्तिवाद है वही महायानियों की देन सिद्ध होने को चला है, क्योंकि बौद्धों का अस्तित्व एशिया की पश्चिमी सीमा में सिद्ध हो चुका है, और कुछ पंडित तो इस प्रकार के प्रमाण पाने का दावा भी करने लगे हैं कि स्वयं ईसा मसीह भारत के उत्तरी प्रदेशों में आये थे और बौद्ध धर्म में दीक्षित भी हुए थे! लेकिन ये आवांतर बातें हैं। मैं जो कहना चाहता था वह यह है कि बौद्ध धर्म क्रमश: लोक धर्म का रूप ग्रहण कर रहा था और उसका निश्चित चिह्न हम हिंदी साहित्य में पाते हैं। इतने विशाल लोक धर्म का थोड़ा पता भी यदि यह हिंदी साहित्य दे सके तो उसकी बहुत बड़ी सार्थकता है।'[19] हिंदू शब्द और अवधारणा दोनों ही बुद्ध के बहुत बाद की वस्तु है, फिर यह 'प्राचीन हिंदू-चिंता' से क्या तात्पर्य हो सकता है! सही बात तो यह है कि जिसे आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी पौराणिक धर्म कहते हैं वह लोक के कारण नहीं राज के कारण बचा। बौद्धों को तो सबसे अधिक आघात पौराणिक धर्म के पुरोहितों की राजसमर्थित कूट चाल से लगा। पौराणिक धर्म और इस्लामिक सत्ता की दोहरी मार झेलकर भी बौद्ध समाप्त नहीं हो गये, बल्कि संतों और सूफियों की वाणी में अभिव्यक्त हुए। नामवर सिंह ठीक ही कहते हैं कि 'मध्ययुग के भारतीय इतिहास का मुख्य अंतर्विरोध शास्त्र और लोक के बीच का द्वंद्व है, न कि इस्लाम और हिंदु धर्म का संघर्ष।'[20] शास्त्र और लोक के बीच का द्वंद्व कहकर चुप हो जाने से बात पूरी नहीं हो जाती है। कहना आवश्यक है कि 'शास्त्र' का सीधा अर्थ वेद है और 'लोक' का अर्थ बुद्ध है। भक्ति साहित्य में यदि 'हतदर्प पराजित जाति' के लक्षण नहीं हैं तो इसका श्रेय निर्वासित मान लिए गये बौद्ध मत की सामाजिक अंत:सक्रियता को मिलना चाहिए। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में 'बिहार में बोद्ध धर्म चौदहवीं-पंद्रहवीं शताब्दी में जीवित था और उसका विलयन कबीरपंथ में हो गया था, यह बात मैंने अन्यत्र दिखाई है।'[21]

3.4 भारत में इस्लामिक सत्ता के आगमन से पहले का नैतिक संघर्ष

आंबेडकर ने लक्षित किया था कि मुसलमानों के वर्चस्व के पहले ब्राह्मणवाद और बौद्धवाद के बीच गहरे नैतिक संघर्ष का भी इतिहास रहा है। मुसलमानों के वर्चस्व के बाद इस संघर्ष का क्या हुआ? आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी याद दिलाते हैं कि 'स्मरण रखने की बात है कि हिंदू धर्म ईसाइयों के धर्म की भाँति बड़े-बड़े मठों या चर्चों द्वारा नियंत्रित नहीं था (जैसा कि पोपों के रोमनचर्च द्वारा ईसाई धर्म नियंत्रित होता था) और न मुसलमानी धर्म के समान सामाजिक भ्रातृभाव के आदर्श द्वारा सुसंगठित ही था। असल में जिस अर्थ में मुसलमान या ईसाई धर्म है वह अर्थ हिंदू धर्म के लिए कभी लागू नहीं हो सकता। दक्षिण में शंकराचार्य और मध्वाचार्य के संप्रदायों के सुसंगठित मठ हैं, पर उनका भी प्रभाव उस जाति का नहीं है जैसा रोमन चर्च का। हिंदुओं की प्रत्येक जाति को अपने आचार-विचार को स्वतंत्र भाव से पालन करने की स्वतंत्रता थी। अगर समूची की समूची जाति ब्राह्मण-श्रेष्ठत्व को स्वीकार कर लेती थी तो चातुर्वर्ण्य में भी उसकी गणना कर ली जाती थी। हिंदुओं की ये जातियाँ आचार-विचार में ब्राह्मणों तथा अन्य श्रेष्ठ जातियों की नकल किया करती थीं और समय-समय पर ऊँची पदवी भी पा जाया करती थीं। हिंदुओं में धर्म परिवर्तन कराने की कोई प्रथा नहीं थी, पर इतिहास से ऐसी सैकड़ों प्रकार की जातियाँ खोज निकाली जा सकती हैं जो समूह रूप में एक ही साथ ब्राह्मण धर्म में शामिल हो गयी थीं। यह एक प्रकार से सामूहिक धर्म परिवर्तन ही होता था। तो जो बात मैं कहने जा रहा था वह यह है कि बौद्ध धर्म के लोप होने के बाद ऐसी बहुत-सी जातियाँ ब्राह्मण धर्म के अंदर आ गयी थीं। इन जातियों के आने के कारण बहुत-से व्रत, पूजा, पार्वण आदि इस धर्म में आ घुसे, जिनकी प्राचीन ग्रंथों में कोई व्यवस्था नहीं थी।'[22] समूची जाति ब्राह्मण-श्रेष्ठत्व को यों ही स्वीकार कर लेती रही होगी! असल में मुसलमानों के वर्चस्व के बाद ब्राह्मणवाद और बौद्धवाद के बीच के गहरे नैतिक संघर्ष को एक नया आयाम मिला। इसके कारण कुछ जातियों ने ब्राह्मण-धर्म को स्वीकार कर लिया तो कुछ ने इस्लाम को। ब्राह्मणवादियों के प्रभुत्व और मुसलमानों के वर्चस्व के दो पाटों के बीच में बौद्धवाद पिसकर रह गया! संस्कृति की इस चलती चक्की के दो पाटों में फँसने का दुख कबीर ने झेला था, रोया भी कम नहीं था--- 'चलती चक्की देखि के, दिया कबीरा रोय। दुइ पट भीतर आय के, साबित गया न कोय।।'[23] ध्यान रहे, ये वही कबीर हैं जिनके साहित्य में बौद्ध-चेतना का 'विलयन' हुआ था!

4 संस्कृति के शक्तिशाली और मौलिक अंश के रूप में भक्ति साहित्य

क्या बौद्ध धर्म आज जीवित नहीं है! आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि बौद्ध धर्म चौदहवीं-पंद्रहवीं शताब्दी में जीवित था और उसका विलयन कबीरपंथ में हो गया। सही बात तो यह है कि बौद्ध धर्म आज भी जीवित है और बौद्ध धर्म के कबीरपंथ में विलीन हो जाने की बात में विलयन दर्शाने का पांडित्योचित उत्साह कुछ अधिक ही है। बौद्ध धर्म का प्रभाव जरूर कबीर साहित्य में अंतरित हुआ। यहाँ जोर देकर कहना जरूरी है कि कबीर साहित्य

और कबीरपंथ के अंतर को जाने-अनजाने भुला देने से बौद्धिक विवेचन की मूल दृष्टि में ही भारी गड़बड़ी हो जाती है। बात इतनी है कि कबीर के माध्यम से भक्ति का जो स्रोत निकलता है उसके पीछे बौद्ध परंपराओं का तात्त्विक योगदान है। यहाँ यह टाँक रखना भी उचित है कि धर्म और भक्ति में बहुत अंतर है। (देखें 5) धर्मों के रहते यदि भक्ति की जरूरत खड़ी हो गई तो दोनों के अंतर को समझना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। भक्ति को सीधे अर्थों में धर्म के परिसर के भीतर में समझना या धर्म के परिसर में सीमित कर देना ऐतिहासिक और सामाजिक दोनों दृष्टि से घातक है। भले ही तुलसीदास ने 'अगुनहिं, सगुनहिं नहिं कछु भेदा' की घोषणा की हो लेकिन सचाई यह है कि निर्गुण और सगुण परंपरा में बहुत भारी भेद है। बौद्धों और ब्राह्मणों का संघर्ष भक्ति साहित्य में निर्गुण और सगुण के रूप में प्रकट हुआ। जिस प्रकार शंकराचार्य और कुमारिल ने बुद्ध चेतना को आच्छादित करने की चेष्टा की ठीक उसी प्रकार सगुणियों ने (खासकर तुलसीदास ने) निर्गुणियों की चेतना (खासकर कबीर चेतना) को आच्छादित करने की चेष्टा की। भारतीय समाज में हिंदू-मुस्लिम-संबंध पर चर्चा करते हुए रामधारी सिंह 'दिनकर' भोपाल के राज-पुस्तकालय में मौजूद हुमायूँ के लिए बाबर के लिखे वसीयतनामे के हवाले से बताते हैं कि बाबर ने हुमायूँ को संबोधित करते हुए कहा कि 'हिंदुस्तान में अनेक धर्मों के लोग बसते हैं। भगवान को धन्यवाद दो कि उन्होंने तुम्हें इस देश का बादशाह बनाया है। तुम तअस्सुब से काम न लेना; निष्पक्ष होकर न्याय करना और सभी घर्मों की भावना का ख्याल करना।'[24] बाबर के लिखे वसीयतनामे का हुमायूँ ने कितना और कितनी दूर तक पालन किया यह अलग से विवेच्य है लेकिन, 'एक बात की ओर ध्यान गये बिना नहीं रहता है कि उस समय भी सवर्ण कवियों की वाणी में और उदात्त चेतना चाहे जितनी हो लेकिन हिंदू मुसलमान संबंधों में मधुरता के लिए राम और रहीम के एक होने की बात या तो है ही नहीं या बिल्कुल अप्रभावी है। यह तथ्य तब और परेशान करता है जब हम आज के भारतीय राज्य में जनतंत्र की उपस्थिति में भी लक्षित करते हैं कि हिंदू मुसलमान के बीच कटुता पैदा करनेवालों में निर्णायक स्वर सवर्णों का ही दिखता है। यह महज संयोग नहीं है। इसके पीछे सामाजिक-आर्थिक संरचना के धर्मेतर प्रसंगों का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है। परीक्षा की जानी चाहिए कि धर्म पर आधारित भारतीय राजनीति की जिस संरचना से भारतीय राज्य के धर्मनिरपेक्ष स्वरूप को बहुत खतरा है, उस संरचना का कितना अंश सवर्ण मनोभावों से निर्मित हैं।'[25] जिस आँख से इतिहास को देखा जाता है, उस आँख को ज्योति तो वर्तमान से ही मिलती है।

4.1 बौद्ध धर्म और भक्ति

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि 'कभी-कभी यह शंका की गयी है कि हिंदी साहित्य का सर्वाधिक मौलिक और शक्तिशाली अंश अर्थात भक्ति-साहित्य मुसलमानी प्रभाव की प्रतिक्रिया है और कभी-कभी यह बताने का प्रयत्न किया गया है कि निर्गुणिया संतों की जाति-पाँति की विरोधी प्रवृत्ति, अवतारवाद और मूर्ति-पूजा के खंडन करने की चेष्टा में 'मुसलमानी जोश' है। किसी-किसी ने तो कबीरदास आदि की वाणियों को 'मुसलमानी हथकंडे' भी बताया है! ये सभी बातें भ्रममूलक हैं। हम आगे चलकर देखेंगे कि निर्गुण मतवादी संतों के केवल उग्र विचार ही भारतीय नहीं हैं, उनकी समस्त रीति-नीति, साधना, वक्तव्य वस्तु के उपस्थापन की प्रणाली, छंद और भाषा पुराने भारतीय आचार्यों की देन है। इसी तरह यद्यपि वैष्णव मत अचानक ही उत्तर भारत में प्रबल रूप धारण करता है, पर सूरदास और तुलसीदास आदि वैष्णव कवियों की समूची कविता में किसी प्रकार की प्रतिक्रिया का भाव नहीं है। हम देखेंगे कि जिस समाज को ये भक्ततगण सुधारना चाहते थे उसमें विदेशी धर्म का कोई प्रभाव उनहोंने लक्ष्य भी किया था। परंतु इन सबका अर्थ यह नहीं है कि मुसलमानी धर्म का कोई प्रभाव इस साहित्य पर नहीं पड़ा है। यह कहना अनुचित है। एक जीवित जाति के स्पर्श में आने पर दूसरी पर उसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। भारतीय साहित्य के सुवर्ण-काल में भी इस प्रकार के विदेशी प्रभाव लक्ष्य किया जा सकता है। परंतु जिस प्रकार कालिदास की कविताओं में यावनी या ग्रीक प्रभाव देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि यह दुर्बल जाति की प्रतिक्रियात्मक मनोवृत्ति का निदर्शक है, उसी प्रकार हिंदी साहित्य में यह प्रभाव 'प्रभाव' रूप में ही स्वीकार किया जाना चाहिए, प्रतिक्रिया के रूप में नहीं।'[26] कालिदास की कविताएँ दुर्बल जाति की प्रतिक्रियात्मक मनोवृत्ति का निदर्शक नहीं थी, न हो सकती थी, क्योंकि खुद 'कालिदास एक बौद्ध विरोधी साहित्यकार थे। इसलिए पुष्पमित्र की तारीफ में कालिदस के रघुवंश और संस्कृति (संस्कृत) के उस जमाने के तमाम साहित्यकारों के साहित्य में यह चीज भरी पड़ी है। कालिदास से लेकर भवभूति, भास, क्षेमेंद्र, भारवि आदि तमाम संस्कृति (संस्कृत) के कवियों ने मिथकों के आधार पर नाटक लिखना शुरू किया। खासकर महाभारत और रामायण के चरित्रों को लेकर नाटकों में वैदिक दर्शन की महिमा का मंडन किया गया। इस तरह बिना बौद्ध दर्शन का नाम लिए उसका विरोध किया गया। जिस कालिदास की इतनी तारीफ की जाती है उसने अश्वमेध के बहाने एक हिंसक दर्शन को बढ़ावा दिया।'[27] भक्ति की मूल चेतना को धर्म से जोड़ दिये जाने के कारण सारी गड़बड़ियाँ हुई हैं। धर्म भक्ति का ऊपरी आवरण जरूर है लेकिन उसके भीतर की मनो-शारीरिक संरचना समतामूलक सामाजिक अधिकार के लिए हजारों साल से चल रहे सांस्कृतिक संघर्ष के तत्त्वों से बनी है। शंकर और कुमारिल के प्रभाव में जो बुद्ध के साथ हुआ (देखें 2.2) वही कबीर के साथ भी हुआ तो क्या आश्चर्य! आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं, 'कबीर के पीछे तो संतों की मानो बाढ़ सी आ गई और अनेक मत निकल पड़े। पर सब पर कबीर का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित है। नानक, दादू, शिवनारायण, जगजीवनदास, आदि जितने प्रमुख संत हुए, सब ने कबीर का अनुकरण किया अपना अपना अलग मत चलाया। ...सबने नाम, शब्द, सद्गुरू आदि की महिमा गाई है और मूर्त्तिपूजा, अवतारवाद तथा कर्मकांड का विरोध किया है, तथा जातिपाँति मिटाने का प्रयत्न किया है, परंतु हिंदू जीवन में व्याप्त सगुण भक्ति और कर्मकांड के प्रभाव से इनके प्रवर्त्तित मतों के अनुयायियों द्वारा वे स्वयं परमात्मा के अवतार माने जाने लगे हैं और उनके मतों में भी कर्मकांड घुस गया है।'[28] कबीर के पीछे जो संतों की बाढ़-सी (बाढ़ का आना अच्छी बात तो नहीं होती है!) आ गई उस बाढ़ में सिर्फ द्विजेतर ही क्यों थे जबकि हिंदू जीवन में व्याप्त सगुण भक्ति और कर्मकांड के प्रणेता द्विज ही क्यों थे! सगुण भक्ति तो हिंदू जीवन में व्याप्त थी और निर्गुण! निर्गुण क्या हिंदू जीवन की व्याप्ति से बाहर की वस्तु थी! क्या सही ऐतिहासिक दृष्टि और जाग्रत आलोचना विवेक का निष्कर्ष है! असल में, बाढ़ तो 'सगुण भक्ति' की आई थी जो अपने बहाव में 'निर्गुण भक्ति' की चेतना को बहाकर ले गई और छोड़ गई बाढ़ के बाद का ढेर सारा कचरा।

4.2 भक्ति आंदोलन का प्रारंभ

यह बात तो मशहूर ही है कि 'भक्ति द्राबिड़ ऊपजी, लाये रामानंद'। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी दर्ज करते हैं कि 'सुदूर दक्षिण में आलवार भक्तों में भक्तिपूर्ण उपासना-पद्धति वर्त्तमान थी। आलवार बारह बताये जाते हैं, जिनमें कम-से-कम नौ तो ऐतिहासिक व्यक्ति हैं ही। इनमें आण्डाल नाम की एक

महिला भी थी। इनमें से अनेक भक्त उन जातियों में उत्पन्न हुए थे जिन्हें अस्पृश्य कहा जाता है। इन्हीं लोगों की परंपरा में सुविख्यात वैष्णव आचार्य श्री रामानुज का प्रादुर्भाव हुआ। दक्षिण में आज की भाँति ही जाति-विचार अत्यंत जटिल अवस्था में था। फिर भी जैसा कि अध्यापक क्षितिमोहन सेन ने लिखा है, इन जाति-विचार-शासित दक्षिण देश में रामानुजाचार्य ने विष्णु की भक्ति का आश्रय लेकर नीच जाति को ऊँचा किया और देशी भाषा में रचित शठकोपाचार्य के तिरुवेल्लुअर प्रभृति भक्तिशास्त्र को वैष्णवों का वेद कहकर समादृत किया। धर्म की दृष्टि में सभी समान हैं लेकिन समाज के व्यवहार में जाति-भेद है, इसीलिए दोनों ओर की रक्षा करके यह व्यवस्था की गई कि प्रत्येक आदमी अलग-अलग भोजन करेगा, क्योंकि जाति-पाँति का सवाल तो पंक्ति-भोजन में ही उठता है। इसी को दक्षिण में 'तेन कलाई' या दक्षिणवाद कहते हैं। इस बात को कुछ अधिक स्वाधीनता समझकर पंद्रहवीं शताब्दी में वेदांतदेशिक ने वेदवाद और प्राचीन रीति को पुन: प्रवर्त्तित किया। इसी को वेदवाद या 'वेद कलाई' कहते हैं। 'तेन कलाई' वालों ने विवाह में होम और विधवा का मस्तक-मुंडन आदि आचार छोड़ दिये थे। किंतु वेदांतदेशिक ने पुनर्वार इन आचारों को जीवित किया। स्पष्ट ही जान पड़ता है कि आलवारों का भक्तिमतवाद भी जनसाधारण की चीज था, जो क्रमश: शास्त्र का सहारा पाकर सारे भारतवर्ष में फैल गया। यह हम ठीक से नहीं कह सकते कि पुराने आलवार भक्तों ने इस भक्तिवाद को कहाँ तक दार्शनिक रूप दिया है।'[29] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी यह तो ठीक कहते हैं कि आलवारों का भक्तिमतवाद भी (यह 'भी' महत्त्वपूर्ण होने के कारण अतिरिक्त रूप से ध्यान देने योग्य है) जनसाधारण की चीज था लेकिन साथ ही यह कहना ठीक नहीं है कि सारे भारतवर्ष में फैलने के पीछे शास्त्रों का सहारा था। क्योंकि जो भक्तिमतवाद जनसाधारण की चीज था उस भक्तिमतवाद का अ-साधारणजनों के शास्त्रों से द्वंद्वात्मक और टकराव का रिश्ता था। शास्त्रों ने 'तेन कलाई' को पुनर्वार 'वेद कलाई' में बदल दिया, यह तो आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी भी बताते हैं। जो शास्त्र खुद लोक भूमि पर प्रतिष्ठित होने के लिए प्रयासरत था वह लोकमत को क्या सहारा देता! कई बार ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी सत्य के बहुत करीब पहुँचकर भी सत्य से मुहँ फेर लेते हैं। शास्त्रीय संस्कार को इतिहास दृष्टि और आलोचना विवेक का अवरोधक मानने के अतिरिक्त इसकी अन्य क्या व्याख्या हो सकती है, कहना मुश्किल है। ऐसी जगहों पर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का आलोचनात्मक विवेक मतिहारा हो जाता है और उनकी इतिहास दृष्टि युगों से संचित संस्कार के सामने जुआ पटक देती है। शोध और अनुसंधान की दृष्टि से मूल्यवान होने के बावजूद उनके मूल्य-निर्धारण में कहीं कुछ महत्त्वपूर्ण छूट जाता है, जिसकी भरपाई कठिन हो जाती है। कबीरदास और तुलसीदास के तुलनात्मक विवेचन में संस्कारों की लदनी से हुई आलोचना विवेक की क्षति तो बहुत साफ-साफ महसूस की जा सकती है।

5 धर्म, भक्ति और साहित्य

हिंदी साहित्य का इतिहास और आलोचना प्रारंभ से ही धर्म और भक्ति के अंतर को नजरअंदाज करती आई है एवं दोनों को एक दूसरे का पर्याय मानकर विवेचन करती आई है। इस आधार पर होनेवाले विवेचन में स्वाभाविक रूप से असंगतियों के लिए अवकाश रह जाता है। 'भक्ति' और 'धर्म' में अंतर है, 'लेकिन, दिक्कत यह है कि हिंदी आलोचना के मनोभाव में शुरू से ही 'भक्ति' और 'धर्म' पर्याय की तरह अंत:सक्रिय रहे हैं। इस अंत:सक्रियता के ऐतिहासिक आधार भी रहे हैं। हिंदी आलोचना को भक्ति काल के साहित्य के अध्ययन के क्रम में इस कठिन सवाल से जूझना अभी बाकी है कि क्या धर्म और भक्ति एक ही चीज है?

5.1 भक्ति और धर्म

वस्तुत:, 'भक्ति' 'धर्म' के परिसर में 'अंतर्धार्मिक' और 'धर्मातीत' अंतर्वस्तु का अंत:संयोजन कर 'धर्म' को पूरी तरह बदल देने का काम करती है! अगर ऐसा नहीं है तो 'धर्मों' के रहते 'भक्ति' के सामाजिक उद्भव की ऐतिहासिक जरूरत की व्याख्या किस तरह की जा सकेगी! ऐतिहासिक रूप से देखें तो, 'धर्मों' में 'कर्मों' पर नहीं 'कर्मकांडों' पर जोर था, 'प्रेम' पर नहीं 'नेम' (नियम) पर जोर था। हिंदू धर्म में ईश्वर 'राजनारायण' है जबकि 'भक्ति' में ईश्वर 'प्रेमपरायण' है। 'भक्ति' का सामाजिक उद्भव निर्विशिष्ट ईश्वर और मनुष्य के प्रति अगाध-अबाध और सकर्मक प्रेम की ऐतिहासिक जरूरत से हुआ था। प्रेम के मूल स्वरूप को समझने से बहुत सारी गुत्थियाँ खुल सकती हैं। इतिहास गवाह है कि इस प्रेम-तत्त्व के कारण 'सभ्यताओं के संघात' की आशंकाएँ 'सभ्यताओं के अंतर्मिलन' की संभावनाओं में बदलती रही है। लेकिन यह प्रेम-तत्त्व इतना सहज नहीं है। सभ्यता के विकास में आनेवाले परिवर्त्तनों के संदर्भों को भी इस समझ से खोला जा सकता है। कबीरदास का अध्ययन इस दृष्टि से किया जाना चाहिए। कबीरदास भक्त थे, उनकी भक्ति के तात्त्विक स्वरूप पर काफी चर्चा हुई है, उनके रहस्य-बोध पर भी चर्चा हुई है, जरूरत है उनकी भक्ति-चतेना को उनके सामाजिक-प्रेम के प्रसंग में 'डि-कोड' करने की। प्रेम अभिन्नता की ओर बढ़ने का मौलिक आधार है। भिन्नता अंधकार है। प्रेम प्रकाश है। प्रेम के प्रभाव में भिन्नता वैसे ही गायब हो जाती है, जैसे प्रकाश के प्रभाव में अंधकार गायब हो जाता है। 'जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि है मैं नाँहि। सब अँधियारा मिटि गया, जब दीपक देख्या माँहि।।'[30] 'प्रेम गली' इतनी सँकरी होती है कि इसमें दो भिन्न के लिए जगह नहीं होती है। 'हँमारै राँम रहीम करीमा केसो, अलाह राँम सति सोई। बिसमिल मेटि बिसंभर एकै, और न दूजा कोई।।'[31] 'राम' और 'रहीम', 'करीम' और 'केशव' के अभिन्न माने जाने के आग्रह में निहित मूल बात यह है कि उनको माननेवाले लोग अभिन्न हैं। धर्म और ईश्वर की अभिन्नता का विचार असल में मनुष्य की अभिन्नता का विचार होने के कारण ही सार्थक होता है। मनुष्य का मनुष्य से ही नहीं, समस्त सचराचर से मनुष्य की अभिन्नता का विचार ही प्रेम है। इसलिए प्रेम में 'वे' और 'हम' की नहीं सिर्फ 'हम' की ही गुंजाइश बनती है। प्रेम सामाजिक समूहन की भिन्नताओं को अभिन्नताओं में बदलने का सबसे बड़ा आधार है। कबीरदास के साहित्य को प्रेम के इस संदर्भ में समझने की कोशिश की जा सकती है। कबीर की पीड़ा यह है कि अभिन्नता हासिल करने के रास्ते में सबसे बड़ी रुकावट उलझानेवाले लोगों और विचारों की तरफ से खड़ी की जाती है; ऐसे लोगों से अभिन्नता कैसे हो सकती है?'[32]

5.2 कबीर का किया

कबीर की भक्ति ने धर्म के स्वरूप को बदल दिया था। धर्म को सामंतवाद से प्राणरस मिलता आया है लेकिन भक्ति तो सामंती मूल्य और मिजाज से टकराकर ही विकसित हुई थी। धर्म और भक्ति में टकराव का यह ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक आधार, परिप्रेक्ष्य और महत्त्व है। 'संतों के लोकधर्म का महत्त्व क्या है? संतों का लोकधर्म सामंती व्यवस्था को दृढ़ नहीं करता है वरन् उसे कमजोर करता है। सामंती व्यवस्था में धरती पर

सामंतों का अधिकार था तो धर्म पर उन्हीं के समर्थक पुरोहितों का। संतों ने धर्म पर से पुरोहितों का यह इजारा तोड़ा। खास तौर से जुलाहों, कारीगरों, गरीब किसानों और अछूतों को साँस लेने का मौका मिला, यह विश्वास मिला कि पुरोहितों और शास्त्रों के बिना भी उनका काम चल सकता है। वर्ग-युक्त समाज में बहुधा सामाजिक संघर्ष धार्मिक रूप ले लेते हैं।'[33] मनुष्य के प्रति प्रेम भक्ति के मूल में है। भक्ति के मूल में धार्मिक शोषण--- जो सामाजिक और आर्थिक-शोषण का आधार प्रदान करता है का जबर्दस्त प्रतिरोध है। यहाँ, 'इस बात को भुला देना कि मानव जाति पर लदा धर्म का जुआ समाज के अंतर्गत लदे आर्थिक जुए का ही प्रतिविंब और परिणाम है, पूँजीवादी संकीर्णता होगी।'[34] इसलिए 'मानव जाति पर लदे धर्म के जुए' में किसी भी तरह के बदलाव की माँग और प्रयास के आशय का स्वाभाविक प्रसार 'आर्थिक जुए' में बदलाव की माँग और प्रयास को भी अंतर्ध्वनित करता है। धर्म के 'ईश्वर' का ठिकाना मसजिद, काबा, कैलास है, भक्ति का 'ईश्वर' कहता है, 'मोकों कहाँ ढूढ़े रे बंदे, मैं तो तेरे पास में।/ ना मैं देवल ना मैं मसजिद, ना काबे कैलास में।/ ना तो कौने क्रिया-कर्म में, नहीं योग बैराग में।'[35] जाहिर है, इस मान्यता से 'धर्म परायण जनता' और 'ईश्वर' के बीच हिंदू-मुस्लिम पुरोहित-समूह को जोरदार धक्का लगना स्वाभाविक था, जिसे धक्का लगेगा, वह मारने तो दौड़ेगा ही, 'साधो, देखो जग बोराना।/ साँची कहौ तौ मारन धावै झूँठे जग पतियाना।/ हिन्दू कहत है राम हमारा मुसलमान रहमाना।' ऐतिहासिक रूप से देखें तो, 'निर्गुण' और 'सगुण' का विवाद 'धर्म' और 'भक्ति' के परिसर में पुरोहितवाद और सामंतवाद के कारण उत्पन्न हुआ। कहना न होगा कि पुरोहितवाद, जिस सामंतवाद का धार्मिक रूप है वर्णव्यवस्था उसी सामंतवाद का सामाजिक रूप है। ऐतिहासिक अनुभव के आलोक में माना जाना चाहिए कि सामंतवाद से सीधी लड़ाई के लिए ही, 'भक्ति' पुरोहितवाद और वर्णव्यवस्था से लड़ते हुए ईश-प्रेम के आवरण में निर्विशिष्ट मनुष्य के प्रति अपने अगाध एवं अबाध प्रेम के साथ विकसित हुई। 'भक्ति' के मर्म में कोरी भावुकता और आध्यात्मिक रहस्य ही नहीं सामाजिक यथार्थ की क्रूरता को मानवीय बनाने की अकुंठ सांस्कृतिक आकांक्षा भी अंतर्निहित है। क्या आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की इतहास दृष्टि और आलोचना विवेक इस जनाकांक्षा को क्या बिल्कुल ही नहीं पढ़ पाई होगी! (देखें 6.3)

5.3 बौद्ध, इस्लाम और हिंदुत्व

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने रेखांकित किया है कि 'इस बात के निश्चित प्रमाण हैं कि सन् ईसवीं की सातवीं शताब्दी में युक्तप्रांत, बिहार, बंगाल, आसाम और नेपाल में बौद्ध धर्म काफी प्रबल था। यह उन दिनों की बात है जब इस्लाम धर्म के प्रवर्त्तक हजरत मुहम्मद का जन्म ही हुआ था। बौद्ध धर्म के प्रभावशाली होने का सबूत चीनी यात्री हुएनत्सांग के यात्रा-विवरण में मिलता है। यह भी निश्चित है कि वह बौद्ध धर्म महायान संप्रदाय से विशेष रूप से प्रभावित था, क्योंकि उत्तरी बौद्ध धर्म यदि हीनयानीय शाखा का भी था तो भी महायान शाखा के प्रभाव से अछूता नहीं था। सातवीं शताब्दी के बाद उस धर्म का क्या हुआ, इसका ठीक विवरण हमें नहीं मिलता, पर वह एकाएक गुम तो नहीं हुआ होगा। उस युग के दर्शन-ग्रंथों, काव्यों, नाटकों आदि से स्पष्ट ही जान पड़ता है कि ईसा की पहली सहस्राब्दी में वह इन प्रांतों में एकदम लुप्त नहीं हो गया था। इधर हाल में जो सब प्रमाण संगृहीत किये जा सके हैं उन से इतना निस्संकोच कहा जा सकता है कि मुसलमानी आक्रमण के आरंभिक युगों में भारतवर्ष से इस धर्म की एकदम समाप्ति नहीं हो गई थी। हम आगे चलकर देखेंगे कि इन प्रदेशों के धर्ममत, विचारधारा और साहित्य पर इस धर्म ने जो प्रभाव छोड़ा है, वह अमिट है। लेकिन जब मैं ऐसा कहता हूँ तो 'प्रभाव' शब्द का जो अर्थ समझता हूँ उसको ध्यान में रखना चाहिए। मैं यह नहीं कहता कि हिंदीभाषी प्रदेश का जन-समुदाय उन दिनों बौद्ध था। वस्तुत: सारा समाज किसी भी दिन बौद्ध था या नहीं, यह प्रश्न काफी विवादास्पद है। कारण यह है कि बौद्ध धर्म संन्यासियों का धर्म था, लोक के सामाजिक जीवन पर उसका प्रभुत्व कम ही था।'[36] बौद्ध धर्म काफी प्रबल था, इन प्रदेशों के धर्ममत, विचारधारा और साहित्य पर इस धर्म ने जो प्रभाव छोड़ा उसके अमिट होने की बात सच है तो, फिर यह कहने का क्या अर्थ है कि लोक के सामाजिक जीवन पर उसका प्रभुत्व कम ही था? लोक के सामाजिक जीवन पर प्रभुत्व कम होने पर उसका प्रभाव अमिट कैसे हो सकता है? आचार्य जानते थे कि इस तरह के सवाल उठ सकते हैं इसलिए उन्होंने 'प्रभाव' शब्द के अर्थ को बड़ी सावधानी के साथ परिभाषित करने की चेष्टा भी की है! वे कहते हैं कि सारा समाज किसी दिन बौद्ध था कि नहीं यह विवादास्पद है। इस विवाद में आचार्य का मत यह है कि सारा समाज किसी भी दिन बौद्ध नहीं था। यह सच हो भी तो क्या फर्क पड़ता है? सारा समाज तो किसी दिन हिंदू भी नहीं था! वे यह स्थापित करते प्रतीत होते हैं कि मुसलमानी आक्रमण के आरंभिक युगों में भारतवर्ष से इस धर्म की एकदम समाप्ति नहीं हो गई थी और बाद के दिनों में यह समाप्त हो गया तो इसका दोष मुसलमानी आक्रमण को जाता है! मुसलमानी आक्रमण तो पौराणिक धर्म पर भी था लेकिन वह बच गया, बौद्ध नहीं बचा, क्यों? क्योंकि (देखें 3.3) आचार्य के अनुसार पौराणिक धर्म का संबंध समाज से था और बौद्ध धर्म का संबंध विहारों से था! क्या सचमुच ऐसा ही था और इसीलिए बौद्ध नहीं बचा! क्या यहाँ समाज का ध्वन्यार्थ राज्य-सत्ता नहीं है!

5.4 साहित्य और धर्म: साहित्य का धर्म और धर्म का साहित्य

हिंदी आलोचना के प्राणपुरुषों के बीच साहित्य और धर्म के संबंधों को लेकर काफी असमंजस की स्थिति रही है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी 'धर्म' और 'भक्ति' में कोई अंतर नहीं करते हैं। वे पूछते हैं 'रामचरितमानस और सूरसागर धार्मिक काव्य नहीं तो क्या हैं?'[37] धर्म का उद्भव एक ऐतिहासिक परिस्थिति में हुआ था। भक्ति काव्य का उद्भव एक भिन्न ऐतिहासिक परिस्थिति में हुआ। धर्म का मुख्य संबंध कर्मकांड से होता है। भक्ति का मुख्य संबंध जीवनबोध से होता है। धर्म और भक्ति यदि एक ही होते तो धार्मिक कर्मकांड में भक्ति साहित्य का उपयोग होता। पता नहीं किस धार्मिक कर्मकांड में भक्ति साहित्य का उपयोग होता है। हाँ विभिन्न धार्मिक अवसरों पर भजन-कीर्त्तन के रूप में भक्ति साहित्य का उपयोग और कुछ हद तक जुड़ाव भी होता आया है। इससे किसी भ्रम की गुंजाइश नहीं बननी चाहिए। क्योंकि भजन-कीर्त्तन उत्सव का हिस्सा होते हैं, कर्मकांड के नहीं। विभिन्न धार्मिक अवसरों पर उत्सव के उपकरण बदल जाते हैं, मंत्र नहीं! आजकल तो धार्मिक अवसरों पर फिल्मी गीत अधिक गाये-बजाये जाते हैं, तो क्या इस कारण से उन गीतों को धार्मिक मान लिया जायेगा! रामचरितमानस और सूरसागर धार्मिक काव्य नहीं हैं, भक्ति काव्य हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी आगे कहते हैं 'इधर कुछ ऐसी मनोभावना दिखाई पड़ने लगी है कि धार्मिक रचनाएँ साहित्य में विवेच्य नहीं हैं। कभी-कभी शुक्लजी के मत को भी इस मत के समर्थन में उद्धृत किया जाता है। मुझे यह बात बहुत उचित नहीं मालूम होती। धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश होना काव्यत्व का बाधक नहीं समझा जाना

चाहिए।'[38] धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश होना काव्यत्व का बाधक नहीं है, यह बात एक ऐतिहासिक परिस्थिति में ही सही हो सकती है। भक्ति काव्य का उद्भव जिस ऐतिहासिक परिस्थति में हुआ था, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी उससे भिन्न ऐतिहासिक परिस्थिति में अपना काम कर रहे थे। यही कारण है कि भक्ति काल में 'धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश' से संबद्ध महान रचनाएँ तो उनकी साहित्यिक आलोचना का विषय बनती हैं, लेकिन उनके अपने समय में सृजित 'धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश' से संबद्ध कोई रचना उनकी आलोचना का आधार विषय नहीं बनती है! धर्म और भक्ति में अंतर नहीं होता तो सारे प्रवचनकर्त्ता और कथावाचक अलोचकों की श्रेणी में गिने जाते! गड़बड़ी धर्म और भक्ति को एक मानकर चलने के कारण हुई है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं 'केवल नैतिक और धार्मिक या आध्यात्मिक उपदेशों को देखकर यदि हम ग्रंथों को साहित्य-सीमा से बाहर निकालने लगेंगे तो हमें आदि काव्य से भी हाथ धोना पड़ेगा, तुलसी रामायण से भी अलग होना पड़ेगा, कबीर की रचनाओं को भी नमस्कार कर देना पड़ेगा, और जायसी को भी दूर से दंडवत करके विदा कर देना होगा। मध्ययुग की प्रधान प्रेरणा धर्मसाधना ही रही है।'[39] यहाँ विनम्रता के साथ लेकिन दृढ़तापूर्वक कहना जरूरी है कि मध्ययुग की प्रधान प्रेरणा धर्मसाधना नहीं रही है। मध्ययुग की प्रधान प्रेरणा धर्म के सामाजिक संजाल से मुक्ति की आकांक्षा और भक्ति साधना रही है; जिसे नामवर सिंह शास्त्र और लोक के द्वंद्व के रूप में पहचानते हैं। यदि, मध्ययुग की प्रधान प्रेरणा धर्मसाधना ही रही है तो 'भक्तिकाल' का नामकरण सीधे 'धर्मकाल' ही क्यों नहीं कर लिया गया? आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी तो यह भी कहते हैं कि 'धार्मिक अनुयायियों के अभाव में अनेक बौद्ध कवियों की रचनाओं से हमें हाथ धोना पड़ा है। अश्वघोष के टक्कर के कवि भी उपेक्षावश भुला दिये गये हैं।'[40] क्या अश्वघोष को भुला दिया जाना सिर्फ 'धार्मिक अनुयायियों' की क्षति है! 'धार्मिक अनुयायियों' का अभाव कैसे हुआ, अश्वघोष की उपेक्षा के ऐतिहासिक कारणों को क्या आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के आलोचना विवेक की खींची हुई इस सरल रेखा में समझा जा सकता है! (देखें 3.3) साहित्य तो मूलत: उनका ही आश्रय रहा है जिनके लिए 'वेद' अलभ्य था--- 'न वेद व्यवहारोयं संश्राव्य: शूद्रजातिषु। तस्मात्सृजापरं वेदं पंचमं सावणार्णिकम।'[41] इसी तरह भक्ति भी मूलत: उन्हींका आश्रय थी, जिनके लिए धर्म में कोई समुचित जगह नहीं थी!

6 आलोचना का विवेक

कबीरदास का आविर्भाव उस समय हुआ था जब भारत एक भिन्न प्रकार के राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं सबसे बढ़कर सामाजिक संक्रमण, संघात, समन्वय और समवाय से गुजर रहा था। किसी भी समाज में संक्रमण, संघात, समन्वय और समवाय इतिहास, वर्त्तमान और भविष्य के अंतर्विरोधों से मुक्त नहीं होता है। इन अंतर्विरोधों के कारण इतिहास के प्रत्येक दौर में पहले के संश्लेषण और विश्लेषण की आख्याओं और व्याख्याओं में अंतर्विरोधों के नये सिरे से उभरकर आने की भरपूर गुंजाइशें रहती हैं तो भविष्य में होनेवाले संश्लेषण और विश्लेषण के बीज भी होते हैं। इसलिए पहले किये जा चुके संश्लेषणों, विश्लेषणों, आख्याओं और व्याख्याओं के किसी प्रसंग को अंतिम मानने का हठ-विचार आलोचना के परिसर के बाहर की चीज है; धर्म, राजनीति, वैयक्तिक-सामुदायिक हितों के परिसरों में ऐसे हठ-विचारों और पूर्वग्रहों का चाहे जो महत्त्व हो, आलोचना के लिए इनका असर अनर्थकारी ही होता है। आलोचना का काम तो किसी भी दौर में संश्लेषण, विश्लेषण और व्याख्याओं के कारण उभरे अंध-बिंदुओं को दृष्टि-बिंदुओं में बदलने की प्रतिज्ञा से अनिवार्यत: प्रतिबद्ध होता है। इस दृष्टि से, आलोचना के किसी भी सार्थक काम को अपने पूर्ववर्त्ती प्रयासों पर पैनी नजर बनाये रखकर, हरबार शुरू से ही शुरू करना पड़ता है।

6.1 कबीर का हिंदी पाठ

कम-से-कम बुद्ध के समय से राज-संपोषित शास्त्र और समाज-समर्थित लोक का गहन द्वंद्व भारत की सामाजिक और सांस्कृतिक अंतर्धाराओं में विद्यमान मिलता है। इस द्वंद्व को इस्लामिक संस्कृति एवं सत्ता के संपर्क से नया आयाम मिला। (देखें 5.1) इस बार शास्त्र और लोक के बीच के द्वंद्व का क्षेत्र बदल गया था द्वंद्व के क्षेत्र का यह बदलाव साधारण नहीं बल्कि चारित्रिक और तात्त्विक था--- और इसके मूल में था सत्ता का बदलाव। ध्यान देने पर यह बात तुरंत साफ हो जाती है कि इस्लामिक संस्कृति और सत्ता से संपर्क और कई मामलों में संघात एवं सहमेल के पहले लोक को शास्त्र अपने अंदर समाहित कर उसे बदल देने में कामयाब होता आया था जबकि इस्लामिक संस्कृति और सत्ता से संपर्क, संघात एवं सहमेल के बाद ठीक इसके विपरीत खुद शास्त्र को लोक के परिसर में प्रवेश करने की अनिवार्यता का सामना करना पड़ा। इस अनिवार्यता की सांस्कृतिक अभिव्यक्ति में कबीर का योगदान अनन्यतम था। भक्ति का स्वाभाविक और प्रारंभिक पथ 'निर्गुण', अर्थात कबीर का पथ था। 'सगुण' का पथ प्रतिक्रियात्मक तो था लेकिन पूर्ण व्याघाती नहीं था। समझा जा सकता है कि 'सगुण' का पथ भक्ति के स्वाभाविक पथ में विचलन तो था, लेकिन इस विचलन के बावजूद 'सगुण' अंततः भक्ति का ही पथ था। यहाँ इतना स्मरण कर लेना आवश्यक है कि 'निर्गुण' भक्ति ने धर्म में पुरोहित के जिस स्थान को निरर्थक बना दिया था 'सगुण' भक्ति ने प्रकारांतर से पुरोहित के उस स्थान को बहाल करने की पीठिका रचने का काम किया। जिस प्रकार 'निर्गुण' का चरम रूप कबीर में प्रकट हुआ था, उसी प्रकार 'सगुण' का चरम रूप तुलसी में प्रकट हुआ। कबीर और तुलसी के बीच की बहस कोई साधारण बहस नहीं है, इसे भारतीय संस्कृति के विस्तृत प्रवाह में निहित, 'विरुद्धों के युग्म' (Unity of Opposites) में निहित ऐतिहासिक तनाव के रूप में समझना चाहिए। तुलसीदास की सांस्कृतिक उपस्थिति ने अपने समन्वयवादी रुझान के कारण इस 'युग्म' के 'विरुद्धों' को अदृश्य बना दिया; औपनिवेशिक सत्ता के जड़ जमाने के साथ ही अदृश्यीकरण की इस प्रक्रिया का एक चक्र पूरा हुआ। हिंदी के सामान्य परिदृश्य से निर्गुण कबीर अदृश्य होते गये! यह हिंदी का सामान्य परिदृश्य था, सामान्य भारतीय परिदृश्य नहीं था। सामान्य हिंदी प्रदेश के बाहर, बंगाल जहाँ नवजागरण की आँच तेज हो रही थी, कबीर की निर्गुण आभा नये सिरे से प्रदीप्त हो उठी थी। शांतिनिकेतन जाकर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी को भी इस आभा का परिचय मिला! 'द्विवेदीजी के शांतिनिकेतन पहुँचने से काफी पहले रवींद्रनाथ ठाकुर की प्रेरणा से आचार्य क्षितिमोहन सेन वाचिक परंपरा में प्राप्त कबीर के वचनों का संग्रह करके 1910 में चार भागों में उनका सटीक प्रकाशन करवा चुके थे। फिर रवींद्रनाथ ने स्वयं भी इनमें से सौ पद चुनकर अंग्रेजी में अनुवाद किया और एवलिन अंडरहिल की भूमिका के साथ लंदन से 'वन हंड्रेड पोएम्स आफ़ कबीर' (1914) शीर्षक से प्रकाशित करवाया था। द्विवेदीजी के लिए ये दोनों ही सजीव प्रेरणाएँ सुलभ थीं। इसलिए इस अनुमान के लिए ठोस आधार है कि व्यापक क्षेत्र में इतनी ख्याति मिलने पर भी स्वयं अपने ही घर में कबीर को उपेक्षित पाकर द्विवेदीजी कबीर के अध्ययन की ओर प्रवृत्त हुए। यह अप्रासंगिक नहीं कि द्विवेदीजी का 'कबीर' आचार्य क्षितिमोहन सेन को समर्पित है।'[42] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जब कबीर के हिंदी पाठ से

विश्वविद्यालय के छात्रों को समृद्ध करना चाहते थे तो उन्हें इस बात के लिए उन लोगों की कुत्सा का शिकार बनना पड़ा जो कबीर की इस नई आभा के वास्तविक प्रभविष्णुता से परिचित ही नहीं थे, तो क्या आश्चर्य! 'बात-बात में मुझे शांतिनिकेतन और रवींद्रनाथ को लेकर ताना दिया जाता था, कुछ इस ढंग से मानो उदार होना या सार्वभौम दृष्टि रखना कोई बहुत बड़ा अपराध हो। काशी विश्वविद्यालय में मैंने कबीर पढ़ाना शुरू किया तो एक मित्र कुलपति से शिकायत कर आये कि जिस विभाग में तुलसीदास से पढ़ायी शुरू होती थी उसमें कबीर से शुरू होने लगी है।'[43] ऐसे माहौल में आचार्य को अपना काम करने की लाचारी थी! तुलसीदास उनके प्रिय थे और कबीर अनुल्लंघ्य! कहना न होगा कि प्रियता का निधार्रण हृदय अर्थात संस्कारों से होता है अनुल्लंघ्यता बौद्धिकता से तय होती है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी को विश्वविद्यालय के आचार्यों ने वैसे ही नहीं समझा जैसे एक समय काशी के ब्राह्मणों ने खुद तुलसीदास को नहीं समझा था! लेकिन आचार्य तो कबीर को समझ रहे थे!

6.2 समाज सुधार

साहित्य और समाज के रिश्ते पर ढेर सारी बहस है। साहित्य समाज सुधार का साधन हो सकता है कि नहीं, या यह कि समाज सुधार में साहित्य की कोई सचेत भूमिका बनती है कि नहीं, या यह कि समाज परिवर्त्तन में साहित्य और साहित्यकारों की कोई भूमिका होती भी है या नहीं--- साहित्यकरों में इन बातों को लेकर काफी विवाद रहा है। तमाम बहसों के बीच में विचारधारा के सवाल भी किसी-न-किसी रूप में बने रहते हैं। यह मानने में मुझ जैसे लोगों को कोई असुविधा नहीं होती है कि साहित्य में मानवीय संबंधों की, भावनाओं की, जीवन-स्थितियों की, गरिमा की, अपेक्षाओं की अंतर्वैयक्तिक अभिव्यक्तियों के लिए पर्याप्त जगह होती है और इसीलिए साहित्य की सामाजिक भूमिका भी पर्याप्त होती है। कबीरदास के साहित्य में पुरोहितों और मौलवियों को संबोधित करते हुए जो बातें कही गई हैं, उन बातों को पुरोहितों और मौलवियों तक सीमित मान लेना कत्तई उचित नहीं हो सकता। सही बात तो यह है कि पुरोहित और मौलवी तो माध्यम थे। संबोधन का असली लक्ष्य तो वे संस्थाएँ और वह समाज-व्यवस्थाएँ थी जिनको पुरोहितों और मौलवियों से बहुविध सामाजिक मान्यताएँ और वैधताएँ मिलती थी। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं, 'कबीर ने ऐसी बहुत-सी बातें कही हैं जिन से (अगर उपयोग किया जाये तो) समाज-सुधार में सहायता मिल सकती है, पर इसलिए उनको समाज-सुधारक समझना गलती है। वस्तुत: वे व्यक्तिगत साधना के प्रचारक थे। समष्टि-वृत्ति उनके चित्त का स्वाभाविक धर्म नहीं था। वे व्यष्टिवादी थे। सर्व-धर्म-समन्वय के लिए जिस मजबूत आधार की जरूरत होती है वह वस्तु कबीर के पदों में सर्वत्र पायी जाती है, वह बात है भगवान के प्रति अहैतुक प्रेम और मनुष्यमात्र को उसके निर्विशिष्ट रूप में समान समझना। परंतु आजकल सर्वधर्मसमन्वय से जिस प्रकार का भाव लिया जाता है वह कबीर में एकदम नहीं था। सभी धर्मों के बाह्य आचारों और अंतर संस्कारों में कुछ-न-कुछ विशेष देखना और सब आचारों, संस्कारों के प्रति सम्मान की दृष्टि उत्पन्न करना ही यह भाव है। कबीर इनके कठोर विरोधी थे।'[44] स्पष्ट है कि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कबीर की बातों से समाज सुधार में सहायता मिलने की संभावनाएँ तो देखते हैं लेकिन कबीर को समाज सुधारक मानने से वे हिचक जाते हैं। क्योंकि उनके अनुसार कबीर व्यष्टिवादी थे, समष्टि-वृत्ति उनके चित्त का स्वाभाविक धर्म नहीं था, वे व्यक्तिगत साधना के प्रचारक थे! तो फिर व्यक्तिगत साधना के अन्य प्रचारकों से कबीर भिन्न कहाँ थे और भिन्न नहीं थे तो समाज सुधार के लिए उनकी बातों के उपयोगी होने का आधार क्या था! यदि 'सर्व-धर्म-समन्वय के लिए जिस मजबूत आधार की जरूरत होती है वह वस्तु कबीर के पदों में सर्वत्र पायी जाती है' तो भी वह आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार बहुत काम की चीज नहीं ठहरती है क्योंकि 'आजकल सर्वधर्मसमन्वय से जिस प्रकार का भाव लिया जाता है वह कबीर में एकदम नहीं था'! भाव में अ-भाव, स्वीकार में अस्वीकार--- यही तो है माया! आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी हिंदी संस्कृति की चारित्रिक विशेषता की अवधारणा को सामने लाते हैं और उनका अलोचना विवेक तदनुसार हिंदी संस्कृति के अंतर्गत कबीर का स्थान तय करने लग जाता है। क्या है हिंदी संस्कृति की चारित्रिक विशेषता? आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, 'अगर आप भारत वर्ष के मानचित्र में उस अंश को देखें जिसकी साहित्यिक भाषा हिंदी मानी जाती है तो आप देखेंगे कि यह विशाल क्षेत्र एक तरफ तो उत्तर में भारतीय सीमा को छुए हुए है, जहाँ से आगे बढ़ने पर एकदम भिन्न जाति की भाषा और संस्कृति से संबंध होता है और दूसरी तरफ पूरब की ओर भी भारतवर्ष की पूर्व सीमाओं को बनानेवाले प्रदेशों से सटा हुआ है। पश्चिम और दक्षिण में भी वह एक ही संस्कृति पर भिन्न प्रकृति के प्रदेशों से सटा हुआ है। भारतवर्ष का ऐसा कोई भी प्रांत नहीं है जो इस प्रकार की चौमुखी संस्कृति से घिरा हुआ हो। इस घिराव के कारण उसे निरंतर भिन्न-भिन्न संस्कृतियों और भिन्न-भिन्न विचारों के संघर्ष में आना पड़ा है। पर जो बात और भी ध्यानपूर्वक लक्ष्य करने की है वह यह है कि यह 'मध्यदेश' वैदिक युग से लेकर आज तक अतिशय रक्षणशील और पवित्र्याभिमानी रहा है। एक तरफ तो भिन्न विचारों और संस्कृतियों के निरंतर संघर्ष ने और दूसरी तरफ रक्षणशीलता और श्रेष्ठतत्त्वाभिमान ने इसकी प्रकृति में इन दो बातों को बद्धमूल कर दिया है--- एक अपने प्राचीन आचारों से चिपटे रहना पर विचार में निरंतर परिवर्त्तित होते रहना, और दूसरे धर्मों, मतों, संप्रदायों और संस्कृतियों के प्रति सहनशील होना।'[45] अर्थात 'अपने प्राचीन आचारों से चिपटे रहना पर विचार में निरंतर परिवर्त्तित होते रहना'! समाज सुधार की बात स्वीकारने के लिए 'विचार में निरंतर परिवर्त्तित होते रहना' काफी नहीं होता है, प्राचीन आचारों से छुटकारा भी पाना होता है। नवाचारों को स्वीकारे बिना पुनर्नवा भी कैसे हुआ जा सकता है! 'पुनर्जन्म और कर्मफल सिद्धांत' को भारतवर्ष के साहित्य की एक निश्चित विशेषता मान लेने पर साहित्य की नजर से समाज में न तो कुछ असंगत बचता है, न अन्यायपूर्ण! फिर साहित्य की नजर में समाज सुधार का महत्त्व ही क्या हो सकता है! तो जो विचार और साहित्य इस 'पुनर्जन्म और कर्मफल सिद्धांत' को नहीं मानता है उसे भारतीय मानने में ही झिझक स्वाभाविक है! (देखें 2.2) 'पुनर्जन्म और कर्मफल सिद्धांत' को भारतवर्ष के साहित्य की एक निश्चित विशेषता मान लेने का कोई तात्त्विक आधार नहीं हो सकता। सही बात तो यह है कि भारतवर्ष के सांस्कृतिक संघर्ष का बहुत बड़ा भाग 'पुनर्जन्म और कर्मफल सिद्धांत' की मिथ्याचारिता के विरोध में ही सक्रिय रहा है। कबीर जैसे निर्गुण संत जब जन्म को ही गुण का आधार नहीं मानते थे तो 'पुनर्जन्म' को कौन पूछे! इस अर्थ में गीता[46] का 'निष्काम कर्म' जो जन्म, जीवन, मरण और पुर्जन्म की तर्कशृँखला से अपना 'ज्ञानयोग' रचता है, कबीर जैसे निर्गुण संत के लिए अमान्य है। 'जात' जन्म से तय होता है, वे 'जात' को नहीं 'ज्ञान' को महत्त्व देते हैं--- 'म्यान' को नहीं 'तलवार' को महत्त्व देते हैं; 'जाति न पूछो साध की, पूछ लीजिए ज्ञान।/ मोल करो तलवार का पड़ा रहन दो म्यान।।'[47] बड़ी बात यह कि 'ज्ञान' को महत्त्व देते हुए भी अपने समय में चल रही 'ज्ञान की आँधी' से भी सावधान करते हैं! 'संतौ भाई आई ग्याँन की आँधी रे।/ भ्रम की टाटी सबै उंड़ाणीं; माया रहे न बाँधी।।'[48] हाँ, तुलसीदास जैसे सगुण भक्त 'पुनर्जन्म और कर्मफल सिद्धांत' को न सिर्फ सच मानते थे, बल्कि अपने माने

हुए इस 'सच' की सामाजिक वैधता को बनाये रखने के लिए प्रयासरत एवं संघर्षशील भी थे। आचार्यगण इसी प्रयास एवं सांस्कृतिक संघर्षशीलता के आधार पर उनके साहित्य के सामाजिक महत्त्व का निरूपण करते हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का आलोचना विवेक खुद की तय की हुई 'भारतवर्ष के साहित्य की एक निश्चित विशेषता' के साथ हो लेता है तो क्या आश्चर्य!

6.3 हिंदू मुस्लिम एकता

मध्यकाल के समाज में जिस भावना की सर्वाधिक जरूरत थी वह थी--- हिंदू मुस्लिम एकता। इस भावना की जरूरत तब से लेकर आज तक बनी हुई है। जाहिर है साहित्य में इस भावना की जितनी जरूरत कबीरदास के समय में थी उससे कम जरूरत आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के समय में भी नहीं थी। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं, 'जो लोग हिंदू-मुस्लिम एकता के व्रत में दीक्षित हैं वे भी कबीरदास को अपना मार्गदर्शक मानते हैं। यह उचित भी है। राम-रहीम और केशव-करीम की जो एकता स्वयं-सिद्ध है उसे भी संप्रदाय-बुद्धि से विकृत मस्तिष्कवाले लोग नहीं समझ पाते। कबीरदास से अधिक जोरदार शब्दों में इस एकता का प्रतिपादन किसी और ने नहीं किया। पर जो लोग उत्साहाधिक्यवश कबीर को केवल हिंदू-मुस्लिम एकता का पैगंबर मान लेते हैं वे उनके मूल-स्वरूप को भूलकर उसके एक-देशमात्र की बात करने लगते हैं। ऐसे लोग यदि यह देखकर क्षुब्ध हों कि कबीरदास ने 'दोनों धर्मों की ऊँची संस्कृति या उच्चतर भावों में सामंजस्य स्थापित करने की कहीं भी कोशिश नहीं की, और सिर्फ यही नहीं, बल्कि उन सभी धर्मगत विशेषताओं की खिल्ली ही उड़ाई है जिसे मजहबी नेता बहुत श्रेष्ठ धर्माचार कहकर व्याख्या करते हैं', तो कुछ आश्चर्य करने की बात नहीं है, क्योंकि कबीरदास इस बिंदु पर से धार्मिक द्वंद्वों को देखते ही नहीं थे। उन्होंने रोग का ठीक निदान किया या नहीं, इसमें दो मत हो सकते हैं, पर औषध-निर्वाचन और अपथ्य-वर्जन के निर्देश में उन्होंने बिल्कुल गलती नहीं की। यह औषध है भगवदविश्वास। दोनों धर्म समान-रूप से भगवान में विश्वास करते हैं और यदि सचमुच ही आदमी धार्मिक है तो इस अमोघ औषध का प्रभाव उस पर पड़ेगा ही। अपथ्य है बाह्य आचारों को धर्म समझना, व्यर्थ कुलाभिमान, अकारण उँच-नीच का भाव। कबीरदास की इन दोनों व्यवस्थाओं में गलती नहीं है और अगर किसी दिन हिंदुओं और मुसलमानों में एकता हुई तो इसी रास्ते हो सकती है।'[49] क्या विचित्र स्थापना है कि अगर किसी दिन हिंदुओं और मुसलमानों में एकता हुई तो कबीर के इसी रास्ते हो सकती है फिर भी कबीर को हिंदू-मुस्लिम एकता का पैगंबर मान लेना कबीर के मूल-स्वरूप को भुला देना है! कुछ लोग पैगंबर ही मान लेते हैं तो क्या है, मान लेने देने में परेशानी क्यों! परेशानी तो है! यदि भक्ति और धर्म में अंतर नहीं होता तो, जिन तत्त्वों को धार्मिक लोग श्रेष्ठ मानते हैं भक्त उन तत्त्वों की खिल्ली क्यों उड़ाता! भक्ति में निष्कंप विश्वास के साथ अटूट तार्किकता के लिए भी काफी जगह होती है, धर्म अपना काम विश्वास (अंधा) के बल पर करता है! भक्ति आँखिन देखी की महिमा को जानती है, जानती ही नहीं बखानती भी है। (देखें 5) कबीरदास ने रोग का ठीक निदान भी किया था, औषध-निर्वाचन और अपथ्य-वर्जन के निर्देश में भी कोई गलती नहीं की थी। बस समझदारों ने विष पर 'औषध' और पथ्य पर 'अपथ्य' का लेबल चिपका दिया ! कबीरादस संत थे और जाहिर है कि वे 'उस बिंदु पर से धार्मिक द्वंद्वों को देखते ही नहीं थे जिस बिंदु से 'धार्मिक लोग' देखते थे। तभी तो यह बात भी सामने आती है कि 'आजकल सर्वधर्मसमन्वय से जिस प्रकार का भाव लिया जाता है वह कबीर में एकदम नहीं था' ! इस प्रकार यह तो स्पष्ट ही है कि कबीर का, कहा जाए तो भक्ति के निर्गुण तत्त्व का, सामाजिक ही नहीं 'धार्मिक' दृष्टि-बिंदु भी भिन्न था। अपने समय में इतिहास के अनसुने सवालों को सुनने और ठीक से समझने एवं 'औषध' और 'अपथ्य' के सही निर्वाचन की अपेक्षा तो आलोचना विवेक से की ही जानी चाहिए। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की बात तो अपनी जगह; दुखद यह है कि आज भी हिंदी आलोचना का विवेक इतिहास के अनसुने सवालों को मन से सुनने के लिए बिल्कुल तैयार नहीं है, 'औषध' और 'अपथ्य' के सही निर्वाचन की तो बात ही क्या! क्या यही नहीं है 'उपसंहार' में निहित संहार का सच!

7 कबीरदास और तुलसीदास

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कबीर के बारे में जो बातें कही है उसे अलग से देखने पर उनके आलोचना विवेक पर कोई संदेह हो सकता है, नहीं! तो फिर, 'साहित्य के क्षेत्र में भविष्य के स्रष्टा' के साहित्य को 'फोकट का माल' कहने की क्या विवशता रही होगी ! 'कविता लिखने की प्रतिज्ञा' के साथ तो तुलसीदास भी 'साहित्य के मैदान' में नहीं आये थे! फिर ऐसा कैसे हो गया कि कबीर का साहित्य 'फोकट का माल' हो गया और तुलसीदास का साहित्य 'अनमोल रतन' हो गया! कैसे!

7.1 साहित्य के क्षेत्र में भविष्य के स्रष्टा

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कबीरदास के महत्त्व को खूब जानते थे। उन्हीं के शब्दों में 'वे (कबीरदास) साधना के क्षेत्र में युग गुरू थे और साहित्य के क्षेत्र में भविष्य के स्रष्टा। संस्कृत के 'कूप-जल' को छुड़ाकर उन्होंने भाषा के 'बहते नीर' में सरस्वती को स्नान कराया। उनकी भाषा में बहुत बहुत-सी बोलियों का मिश्रण है, क्योंकि भाषा उनका लक्ष्य नहीं था और अनजान में वे भाषा की सृष्टि कर रहे थे।'[50] साधना और साहित्य का ऐसा मेल न तो कबीर के पहले और न कबीर के बाद ही कहीं मिलता है। जब नाम जाप तथा हजार और लाख बार के नाम जाप का महत्त्व बताया जा रहा था कबीर साफ-साफ कहते थे--- 'पंडित बाद बदंते झूठा।/ राम कह्यां दुनिया गति पाबै, षाँड कह्याँ मुख मीठा।।/ पावक कह्याँ पाव जे दाझै, जल कहि त्रिषा बुझाई।/ भोजन कह्याँ भूष जे भाजै, तौ सब कोई तिरि जाई।।[51] ऐसे कबीर की साधना और साहित्य को सिर्फ आध्यात्मिक मिजाज से समझ पाना मुश्किल नहीं असंभव ही माना जा सकता है।

'वाद-विवाद-संवाद' चिंतन की स्वाभाविक पद्धति है, यह कबीर के समय में ज्ञात था या नहीं यह तो विवाद का विषय हो सकता है, लेकिन ज्ञानियों के चक्कर में पड़ने से चिंतन की इस स्वाभाविक पद्धति का जो हाल होता है, कबीर निर्विवाद रूप से उससे अवगत थे। न होते तो कैसे कहते कि 'पाँडे करसि न वाद विवादं, या देही बिना सबद न स्वादं।।'[52] 'सबद' और 'स्वाद' को 'देह' ('देही' तो 'देह' में ही रहता है!) से जोड़कर देखने और दिखानेवाले कबीर की साधना और साहित्य को आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी समझते नहीं तो कैसे कह पाते कि 'साधना के क्षेत्र में युग गुरू थे और

साहित्य के क्षेत्र में भविष्य के स्रष्टा' थे! सच कहा जाये तो 'साहित्य के क्षेत्र में भविष्य के स्रष्टा' होने का प्रमाण तो उन्हें नवजागरण के आलोक में खुद रवींद्रनाथ ठाकुर और क्षितिमोहन सेन से ही मिल चुका था। फिर भी आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं 'रूप के द्वारा अरूप की व्यंजना, कथन के जरिये अकथ्य का ध्वनन, काव्य शक्ति का चरम निदर्शन नहीं तो क्या है? फिर भी ध्वनित वस्तु ही प्रधान है; ध्वनित करने की शैली और सामग्री नहीं। इस प्रकार काव्यत्व उनके पदों में फोकट का माल है--- बाईप्रोडक्ट है; वह कोलतार और सीरे की भाँति और चीजों को बनाते-बनाते अपने-आप बन गया है।'[53] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार ध्वनित वस्तु ही प्रधान है, ध्वनित करने की शैली और सामग्री नहीं! शैली तो अपनी जगह, हालाँकि कुछ विद्वान यह बताते हुए नहीं थकते कि वस्तु ही शैली का भी निधार्रण कर देती है! ऐसे विद्वानों की निगाह शैली पर नहीं गई तो फिर भी कोई बात नहीं। लेकिन 'ध्वनित वस्तु' और 'ध्वनित करने की सामग्री' का ऐसा बारीक अंतर तो 'ज्ञान की आँधी' में ही जाहिर होता है! 'ज्ञान की आँधी' में पले विद्वानों के लिए क्या मुश्किल है, वे तो कह ही सकते हैं कि अरे इतना भी नहीं जानते! 'ध्वनित करने की सामग्री' है--- सितार; 'ध्वनित वस्तु' है--- राग! क्या सचमुच कबीर ने 'संस्कृत के 'कूप-जल' को छुड़ाकर भाषा के 'बहते नीर' में सरस्वती को स्नान कराया'! कबीर के लिए तो संस्कृत भाषा 'कूप-जल' थी ही, बुद्ध और महावीर के लिए भी संस्कृत कोई सहज स्वाभाविक भाषा नहीं थी। लेकिन जिन आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के लिए संस्कृत ऐसी भाषा रही है जिसमें साहित्य की रचना कम-से-कम छह हजार वर्षों से निरंतर होती आ रही है, जिसके लक्षाधिक ग्रंथों के पठन-पाठन और चिंतन में भारतवर्ष के हजारों पुश्त तक के करोड़ों सर्वोत्तम मस्तिष्क दिन-रात लगे रहे हैं और आज भी लगे हुए हैं, भारतवर्ष की श्रेष्ठ चिंता का स्रोत संस्कृत के रास्ते ही बहता आया है, इस विशाल देश की भाषा समस्या का हल आज से सहस्रों वर्षों पूर्व से लेकर अब तक जिस भाषा के जरिये हुआ है, जिसके सामने कोई भी भाषा न्यायपूर्वक अपना दावा लेकर उपस्थित नहीं रह सकती--- फिर वह स्वदेशी हो या विदेशी, इस धर्म के माननेवालों की हो या उस धर्म के, जो इस देश की अद्वितीय महिमाशालिनी भाषा है--- अविजित, अनाहत और दुर्द्धर्ष भाषा रही है, उस भाषा को वे 'कूप-जल' कहें! (देखें 2.2) आश्चर्य! स्नान तो संस्कार-गंगा में ही वरेण्य होता है, अनजान में सृष्ट हो रही भाषा-सरिता में नहीं! और कबीरदास तो माया महाठगिनी को पहचानते भी थे--- 'माया महा ठगनि हम जानी।/ तिरगुन फाँसि लिये कर डोले, बालै मधुरी बानी।।/ केशव के कमला होइ बैठी, सिव के भवन भवानी। पंडा के मूरत होय बैठी, तीरथ में हू में पानी।।/ जोगी के जोगिन होइ बैठी, राजा के घर के रानी।/ काहू के हीरा होइ बैठी, काहू के कौड़ी कानी।।/ भक्तन के भक्तिन होइ बैठी, ब्रह्मा के ब्रह्मानी।/ कहैं कबीर सुनो भाई साधो, यह सब अकथ कहानी।।'[54]

सरस्वती का स्नान! स्नान करवाना पंडों-पुरोहितों का काम था, कबीरदास का नहीं। कबीरदास तो स्नान, दान, काबा, काशी आदि के झमेले से मुक्त हो चुके थे! उन्हें फिर से इस झमेले में डालने का क्या मतलब! कबीरदास साधना के क्षेत्र में युग गुरू थे, पर किसने उन्हें गुरू माना! साहित्य के क्षेत्र में भविष्य स्रष्टा थे, पर उनका साहित्य फोकट का माल था! वे भाषा की भी सृष्टि कर रहे थे, मगर अनजान में! यह कैसे संभव है? संभव है। दुनिया में बड़े-बड़े आविष्कार अनजान में ही तो हुए हैं--- और कुछ न भी मालूम हो कम-से-कम नहाते हुए आर्कमिडीज के 'युरेका-युरेका' चिल्लाने या बाग में न्युटन के सामने सेव के गिरने की कहानी तो सबको मालूम ही है। यह न मालूम हो तो 'घुणाक्षर न्याय' के बारे में जानते होंगे! घुन लकड़ी पर अपना काम करता है। अब घुन के इस काम से कहीं 'क' बन जाता है कहीं 'बी' तो कहीं 'र' और विद्वान लोग उसे जोड़कर 'कबीर' समझें तो इसमें घुन का, क्या तो गुण और क्या तो दोष! यह सरस्वती की महिमा नहीं तो और क्या है कि इस देश में हमेशा 'कबीर के विवेक' को ही 'घुणाक्षर न्याय' से समझा जाता है, तुलसीदास के विवेक को नहीं! (देखें 4.1)

कबीरदास और तुलसीदास की तुलना करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं, 'हिंदी-साहित्य के हजार वर्षों के इतिहास में कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक उत्पन्न नहीं हुआ। महिमा में यह व्यक्तित्व केवल एक ही प्रतिद्वंद्वी जानता है, तुलसीदास। परंतु तुलसीदास और कबीर के व्यक्तित्व में बड़ा अंतर था। यद्यपि दोनों ही भक्त थे, परंतु दोनों स्वभाव, संस्कार और दृष्टिकोण में एकदम भिन्न थे। मस्ती, फक्कड़ाना स्वभाव और सब-कुछ को झाड़-फटकारकर चल देने वाले तेज ने कबीर को हिंदी साहित्य का अद्वितीय व्यक्ति बना दिया है। उनकी वाणियों में सब-कुछ को छाकर उनका सर्वजयी व्यक्तित्व विराजता रहता है। उसी ने कबीर की वाणियों में अनन्य-साधारण जीवन-रस भर दिया है। कबीर की वाणी का अनुकरण नहीं हो सकता। (देखें 4.1) अनुकरण करने की सभी चेष्टाएँ व्यर्थ सिद्ध हुई हैं। इसी व्यक्तित्व के कारण कबीर की उक्तियाँ श्रोता को बलपूर्वक आकृष्ट करती हैं। इसी व्यक्तित्व के आकर्षण को सहृदय समालोचक सँभाल नहीं पाता और रीझकर कबीर को 'कवि' कहने में संतोष पाता है। ऐसे आकर्षक वक्ता को 'कवि' न कहा जाये तो और क्या कहा जाये? परंतु यह भूल नहीं जाना चाहिए कि यह कवि रूप घलुए में मिली हुई वस्तु है। कबीर ने कविता लिखने की प्रतिज्ञा करके अपनी बातें नहीं कही थीं।'[55] किसने कविता लिखने की प्रतिज्ञा करके अपनी बातें कही थीं? तुलसी ने! नहीं तो! लेकिन कबीर के कवि रूप को ही घलुए में मिली वस्तु होना था!

7.2 कबीर की केंद्रीय वस्तु

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं, 'प्रेम-भक्ति को कबीरदास की वाणियों की केंद्रीय वस्तु न मानने का ही यह परिणाम हुआ है कि अच्छे-अच्छे विद्वान उन्हें घमंडी, अटपटी वाणी का बोलनहारा, एकेश्वरवाद और अद्वैतवाद के बारीक भेद को न जाननेवाला, अहंकारी, अगुण-सगुण-विवेक-अनभिज्ञ आदि कहकर अपने को उन से अधिक योग्य मानकर संतोष पाते रहे हैं।'[56] कबीर चेतना का बीज-तत्त्व 'प्रेम' है। कबीर को 'सतगुरू' भी इसीलिए भाते हैं कि वे 'सत्त प्रेम' का प्याला भरते हैं, खुद पीते हैं और कबीर को भी पिलाते हैं। 'साधो, सतगुरू मोंहि भावै।/ सत्त प्रेम का भर प्याला, आप पिवै मोंहि प्यावै।'[57] इस अपार जगत में जिससे रहनि संभव हो वही 'प्रीतम' कबीर को 'प्यारा' है! 'जिससे रहनि अपार जगत में, सो प्रीतम मुझे पियारा हो।/ जैसे पुरइनि रहि जल-भीतर, जलहिं में करत पसारा हो।/ आप जरै औरनि को जारै, राखै प्रेम-मरजादा हो।'[58] कबीर के प्रेम की जागतिकता पर और कुछ अलग से कहने की जरूरत है! 'देह' के महत्त्व को समझना जागतिकता के महत्त्व को समझना नहीं तो और क्या है? मनुष्य के प्रति निर्विशिष्ट और अबाध प्रेम कबीर के व्यक्तित्व का बीज-तत्त्व है। कबीर के समय का बीज-तत्त्व, धर्म और ईश-विचार में निहित था। इसलिए, कबीर का मनुष्य-प्रेम, ईश्वर के आलंबन से भक्ति के परिसर में अभिव्यक्त हुआ है। यदि 'हरिस्मरण' के संदर्भ में 'कलाविलास' के लिए जगह बन सकती है तो 'हरिस्मरण' के संदर्भ में समाजविकास और सामाजिक समानता के लिए जगह क्यों नहीं बन सकती है? बन सकती है, इसीलिए, कबीर ने ईश-विचार की चुनौती तो स्वीकारी,

लेकिन साथ ही उन्होंने धर्म को गहरी चुनौती भी दी। उन्होंने धर्म और ईश-विचार दोनों को ही बदलकर रख दिया। कबीर के बाद हिंदी-समाज के संदर्भ में न तो धर्म और न ही ईश-विचार वही रह गया जो कबीर के पहले था। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की भक्ति-चतेना को ईश-प्रेम से जोड़कर उसका गहन और विलक्षण अध्ययन तो करते हैं लेकिन सामाजिक-प्रेम के प्रसंग में 'डि-कोड' करने का गुरूतर कार्य पता नहीं किसके भरोसे पर छोड़ देते हैं। ईश्वरीय-प्रेम तो अंतत: और अनिवार्यत: मानव-प्रेम के रूप में ही सार्थक हो सकता है। ईश्वरीय-प्रेम और मानव-प्रेम के बीच सूक्ष्म और अबाध भावांतरण [59] को ठीक से नहीं समझने पर न तो कबीर का आध्यात्म समझ में आ सकता है और न ही उनके साहित्य के सामाजिक महत्त्व की बात ही समझ में आ सकती है। कबीर के 'ईश्वरीय-प्रेम' अर्थात आध्यात्म-चेतना, को तो खूब सराहा गया लेकिन उनके 'मानव-प्रेम' अर्थात सामाजिक-चेतना की गंभीरता को न समझते हुए उसे 'फोकट का माल' ही माना गया! कबीर का प्रेम 'दुलहा-दुलहिन' का अंतर्मिलन है, बारातियों का मजाक नहीं, 'लिखा लिखी की है नहीं, देखा देखी बात।/ दुलहा दुलहिन मिलि गये, फिकी परी बराता।'[60]

7.3 समवाय, समन्वय और समाज

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी तुलसीदास के बारे में कहते हैं, 'भारतवर्ष का लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय कर सके। क्योंकि भारतीय समाज में नाना भँति की परस्पर-विरोधिनी संस्कृतियाँ, साधनाएँ, जातियाँ आचारनिष्ठा और विचार-पद्धतियाँ प्रचलित हैं। बुद्धदेव समन्वयकारी थे, गीता में समन्वयकारी चेष्टा है और तुलसीदास भी समन्वयकारी थे। ...लोक और शास्त्र के इस व्यापक ज्ञान ने उन्हें अभूतपूर्व सफलता दी। उनका सारा काव्य समन्वय की विराट चेष्टा है। लोक और शास्त्र का समन्वय, गार्हस्थ और वैराग्य का समन्वय, भक्ति और ज्ञान का समन्वय, ब्राह्मण और चांडाल का समन्वय--- रामचरित-मानस शुरू से आखिर तक समन्वय का काव्य है।...समन्वय का मतलब है कुछ झुकना, कुछ दूसरों को झुकने के लिए बाध्य करना। तुलसीदास को ऐसा करना पड़ा है। यह करने के लिए जिस असामान्य दक्षता की जरूरत थी वह उनमें थी। फिर भी झुकना झुकना ही है। यही कारण है कि रामचरित-मानस के कथा-काव्य की दृष्टि से अनुपमेय होने पर भी उसके प्रवाह में बाधा पड़ी है। अगर वह शुद्ध कविता की दृष्टि से लिखा जाता तो कुछ और ही हुआ होता। ...आज चार सौ वर्ष बाद इस विषय में कोई संदेह नहीं रह सकता कि उन्होंने भावी समाज की सृष्टि सचमुच की थी। आज का उत्तर-भारत तुलसीदास का रचा हुआ है। वही उसके मेरुदण्ड हैं।'[61] तुलसीदास में समन्वय की विराट चेतना थी और आज का उत्तर-भारत तुलसीदास का रचा हुआ है--- तो फिर तुलसीदास के रचे हुए इस उत्तर-भारत में ब्राह्मण और चांडाल का समन्वय क्यों नहीं हो सका? इतिहास के इस सवाल से न तो आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की इतिहास दृष्टि टकराती हुई दिखती है और न उनका आलोचना विवेक ही टकराता हुआ दीखता है।

यह मानने का कोई कारण नहीं है कि कबीर में 'समन्वय-चेतना' नहीं थी। कबीर का समवाय निश्चित रूप से तुलसीदास के समन्वय से भिन्न जाति का और अधिक व्यापक स्वभाव का था। समवाय में झुकने-झुकाने का नहीं, समझने-समझाने का भाव प्रमुख होता है। तुलसीदास के समन्वय में हिंदू धर्म के विभिन्न मतवादों और उपासना पद्धति में, दार्शनिक मतों में, वैचारिक समन्वय का वर्ण-सापेक्ष पक्ष अंतर्निहित है। कबीरदास के समवाय का धरातल तुलसीदास के समन्वय से बड़ा है। कबीर 'निर्विशिष्ट मनुष्यता' के विभाजन के थोथे आधार को चुनौती देते हैं। कहना न होगा कि 'समन्वय' विचार का सकारात्मक पक्ष होता है। तुलसीदास का समन्वय 'सामाजिक समता के निषेध' को स्वीकार कर आध्यात्मिक एकता की बात करता है। कबीरदास का समवाय 'निषेध का निषेध' करते हुए आध्यात्मिक एकता के साथ सामाजिक एकता की बात पर भी बल देता है। लेकिन, 'मेरा-तेरा मनुआँ कैसे इक होई रे।/ मैं कहता आँखिन देखी, तू कहता कागद की लेखी।/ मैं कहता सुरझावनहारी, तू राख्यौ उरझाई रे।'[62] तुलसीदास का समन्वय मनुष्य की धार्मिक-समता को स्वीकार करते हुए भी मनुष्य की सामाजिक-समता की पैरवी नहीं करता है, बल्कि कहना चाहिए कि सामाजिक-विषमता का, प्रकारांतर से और कभी-कभी सीधे भी, औचित्य प्रतिपादित करता है। कबीरदास का समवाय मनुष्य की धार्मिक-समता के साथ ही मनुष्य की सामाजिक-समता की भी पैरवी करता है, बल्कि कहना चाहिए कि सामाजिक-समता के औचित्य प्रतिपादन पूरी तार्किकता के साथ करता है। वस्तुत: धार्मिक आधार पर समता और सामाजिक आधार पर विषमता से विरोधाभासी जीवन-स्थितियों का जन्म होता है। जिस भक्त के चिंतन में 'भगवान के प्रति अहैतुक प्रेम और मनुष्यमात्र को उसके निर्विशिष्ट रूप में समान समझने' का मनोभाव सक्रिय हो उससे बड़ा समन्वयकारी और कौन हो सकता है! यह सच है कि कबीर का समन्वय झुकने-झुकानेवाले समन्वय से भिन्न है, क्योंकि वे झुकने-झुकानेवाले समन्वयों के सांस्कृतिक परिणाम को पढ़ पा रहे थे। यह समझना ही होगा कि 'कबीर का सवप्न क्यों बिखर गया? तुलसी कबीर से सौ साल बाद होकर भी कबीर से अधिक मुखर क्यों नहीं हो सके? भक्ति पुन: धर्मिक पाखंड और कर्मकांड में क्यों बदल गई?'[63] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के पास इस सवाल का सही जवाब है; भक्ति पुन: धर्मिक पाखंड और कर्मकांड में बदल गई 'हिंदू जीवन में व्याप्त सगुण भक्ति और कर्मकांड' के कारण (देखें 4.1)। यह जानने और मानने के बाद भी आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं, 'तुलसीदास कवि थे, भक्त थे, पण्डित-सुधारक थे, लोकनायक थे और भविष्य के स्रष्टा थे। इन रूपों में उनका कोई भी रूप किसी से घटकर नहीं था। यही कारण था कि उन्होंने सब ओर से समता (Balance) की रक्षा करते हुए, एक अद्वितीय काव्य की सृष्टि की और अब तक उत्तर भारत का मार्ग-दर्शक रहा है और उस दिन भी रहेगा जिस दिन भारत का नया जन्म होगा।'[64] क्या हजारीप्रसाद द्विवेदी कबीर के प्रति असहिष्णु हैं? शायद नहीं। लेकिन यह सच है कि तुलसीदास और सगुण भक्ति का प्रसंग आते ही उनका आलोचनात्मक रवैया सीधी-सरल रेखा से समझ में नहीं आता है। यह सच है कि हिंदी परिसर में कबीर को फिर से सामने लाने का आलोचनात्मक दायित्व ऐतिहासिक रूप से सबसे अधिक तत्परता से उन्होंने ही निभाया। शंतिनिकेतन में रहते हुए उन्हें कबीर के महत्त्व का अंदाजा लग गया था। बंगाल के नवजागरण के सूत्रकारों और सूत्रधारों से उनका निकट का संबंध बना था। नवजागरण के सूत्रों से उन्हें कबीर नये संदर्भ में महत्त्वपूर्ण लगने लगे थे। वे महिमा में कबीर की प्रतिद्वंद्विता तुलसी से होने को देख रहे थे। दिक्कत यहीं हो गई। कबीर की नहीं, तुलसी की कबीर से प्रतिद्वंद्विता थी। बाद में होने का लाभ तुलसी को मिला। उन्होंने कबीर समेत भक्ति के पूरे सामाजिक पाठ को उलटकर उसे फिर से सामंतवाद, शास्त्र-धर्म और वर्ण-व्यवस्था में समेट लिया। तुलसीदास का यह प्रभाव हिंदी क्षेत्र में गहरा पड़ा, लेकिन हिंदी-क्षेत्र से बाहर तुलसी का प्रभाव पड़ा ही नहीं या फिर बहुत फीका पड़ा। दोनों का प्रभाव हजारीप्रसाद द्विवेदी के सामने था। इन प्रभावों का द्वंद्व उनके भीतर था। इसी द्वंद्व का नतीजा है कि वे आलोचना की नजर से इस बात को सैद्धांतिक रूप से ठीक ही देख रहे थे कि 'ध्वनित वस्तु ही प्रधान है; ध्वनित करने की

शैली और सामग्री नहीं' लेकिन व्यावहारिक रूप से 'प्रधान ध्वनित वस्तु' को 'बाई प्रोडक्ट' और 'फोकट का माल' कह रहे थे। काव्य रचना तो तुलसी की भी प्रतिज्ञा नहीं थी, कबीर की भी नहीं थी। फिर तुलसी का काव्य 'अद्वितीय' कैसे हो गया और कबीर का काव्य 'फोकट का माल' कैसे हो गया!

7.4 प्रेरणा और प्रयोग

भक्ति शास्त्र से प्रेरणा नहीं लेती है, शास्त्र का प्रयोग जरूर करती है। कहना न होगा कि प्रयोग करने और प्रेरणा लेने में भारी अंतर होता है। 'धर्म' शास्त्र से प्रेरणा लेता है, जीवन और लोकाचरण में प्रयोग नहीं करता है। भक्ति शास्त्र से प्रेरणा लेने के बदले उसके विरोध में जाने का 'जोखिम' उठाते हुए भी उसका जीवन और लोकाचरण में भरपूर प्रयोग करती है। क्योंकि भक्ति कुमति को पहचानती है, 'पांडे कौन कुमति तोहि लागी, तूँ राम न जपहि अभागी।।/ वेद पुरान पढ़त अस पाँड़े, खर चंदन अस जैसैं भारा।' जाहिर है 'राम नाम जपना' और 'वेद पुरान' पढ़ना दोनों अपनी-अपनी वस्तुवाचकता और अपने पदार्थ-बोध में एक-दूसरे से भिन्न ही नहीं विपरीत भी है। तुलसीदास के 'नाम सुमिरन सब विधिहू को राज रे। नाम को बिसरिबौ निषेध सिरताज रे।।' और कबीरदास के 'पांडे कौन कुमति तोहि लागी, तूँ राम न जपहि अभागी।।' में तात्त्विक अंतर है। तुलसीदास का 'नाम सुमिरन' 'वेद पुरान' के अतिरिक्त और 'वेद पुरान' का विस्तार है, कबीरदास का 'राम नाम जपना' उस 'वेद पुरान' का विकल्प और उस 'वेद पुरान' से निस्तार का मार्ग है। इस अंतर का संबंध उनके सामाजिक अवस्थान से है। असल बात यह है कि अपने समय की जीवन-स्थितियों के कारण 'भक्ति' 'शास्त्र के खर-चंदन-भार' से 'धर्म' को मुक्त करने के क्रम में अंतर्धार्मिक और धर्मातीत रास्ता अख्तियार करती है। जी हाँ, 'संत-साहित्य भारतीय जीवन की अपनी परिस्थितियों से पैदा हुआ था। उसका स्रोत बौद्ध धर्म या इस्लाम में, या हिंदू धर्म में, ढूढ़ना सही नहीं है। उन धर्मों का असर है लेकिन ये उसके मूल स्रोत नहीं हैं। मल्लिक मुहम्मद जायसी कुरान के भाष्यकार नहीं हैं, न कबीर और दादू त्रिपिटकाचार्य हैं, न सूर और तुलसी वेद, गीता या मनुस्मृति के टीकाकार हैं। संत-साहित्य की अपनी विशेषताएँ हैं जो मूलत: किसी प्राचीन धर्मग्रंथ पर निर्भर नहीं हैं।'[65] इतिहास गतिशील रहता है। आनेवाला समय गुजरे हुए समय की समझ को बार-बार परखने की चुनौतियाँ देता है। असल में, 'संत-साहित्य भारतीय जीवन की अपनी परिस्थितियों से पैदा हुआ था। उसका स्रोत--- बौद्ध धर्म या इस्लाम या हिंदू धर्म में--- ढूढ़ना सही नहीं है', इसीलिए भक्ति को धार्मिक परिप्रेक्ष्य के बाहर और 'भारतीय जीवन की अपनी परिस्थितियों' के परिप्रेक्ष्य के अंदर से समझना और स्वीकारना ही उचित और उपादेय है। लेकिन यह काम आलोचना तत्परता से नहीं कर सकी है। तुलसीदास में भक्ति का धार्मिक परिप्रेक्ष्य अधिक है और कबीरदास में सामाजिक परिप्रेक्ष्य अधिक है। तुलसीदास ने भक्ति साहित्य के सामाजिक परिप्रेक्ष्य को धार्मिक परिप्रेक्ष्य में ला खड़ा किया जिससे 'भक्ति' के गौण होते जाने और 'धर्म' के प्रमुख होते जाने का मार्ग प्रशस्त हुआ। तुलसीदास के भक्त होने के बावजूद उनकी धार्मिक-चेतना, इस अर्थ में भक्ति की मूल सामाजिक चेतना का विरोध रचती है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इतिहास की इस विडंबना को जानते तो थे! लेकिन रही होगी कोई बात कि उनकी इतिहास दृष्टि झलफला गई और अलोचना विवेक आगे बढ़ने से हिचक गया। यह बात संस्कारजन्य भी हो सकती है या फिर विश्वविद्यालयों का वातावरण भी हो सकता है या फिर और कुछ! जो भी स्थिति हो, अंततः के पहले मुक्तिबोध के शब्दों को याद करें, ''आज संस्कृति का नेतृत्व उच्च वर्ग के हाथ में है--- जिनमें उच्च मध्यवर्ग भी शामिल है। किंतु यह आवश्यक नहीं है कि यह परिस्थिति स्थायी रहे, अनिवार्यत:। यह बदल सकती है। और, जब बदलेगी, तब इतनी तेजी से बदलेगी कि होश फ़ाख्ता हो जायेंगे। संस्कृति का नेतृत्व करना जिस वर्ग के हाथ में होता है, वह समाज और संस्कृति के क्षेत्र में अपनी भावधारा और अपनी जीवन-दृष्टि का इतना अधिक प्रचार करता है कि उसकी एक परंपरा बन जाती है। यह परंपरा भी इतनी पुष्ट, इतनी भावोन्मेषपूर्ण और विश्व-दृष्टि-समन्वित होती है, कि समाज का प्रत्येक वर्ग आच्छन्न हो जाता है। यहाँ तक कि जब अनेक सामाजिक राजनीतिक कारणों से निम्न-जन-श्रेणियाँ उदबुद्ध होकर, सचेत और सक्रिय होकर अपने-आपको प्रस्थापित करने लगती है तब वे उन पुराने चले आ रहे भाव-प्रभावों, विचारधाराओं और जीवन-दृष्टियों को इस प्रकार संपादित और संशोधित कर लेती हैं, कि जिससे वे अपने अज्ञान की परिधि में ज्ञान की ज्वाला प्रदीप्त कर सकें। दूसरे शब्दों में, समाज-रचना को बदलनेवाली विचारधारा के अभाव में, वे निम्न-जन-श्रेणियाँ, अपनी सामाजिक-राजनीतिक विकासावस्था के अनुरूप, पुरानी विचारधाराओं ही का संपादन संशोधन कर लेती हैं और इस प्रकार अपने प्रभाव का आंशिक विस्तार कर लेती हैं। किंतु अंतत:, संस्कृति का नेतृत्व करनेवाले पुराने विधाताओं से हारना ही पड़ता है। मेरा मतलब कबीर जैसे निर्गुणवादी संतों की श्रेणी से और उस श्रेणी में आनेवाले लोगों से है। समाज के भीतर निम्न-जन-श्रेणियों का वह विद्रोह था, जिसने धार्मिक-सामाजिक धरातल पर स्वयं को प्रस्थापित किया। आगे चलकर, निर्गुणवाद के अननंतर, सगुण भक्ति और पौराणिक धर्म की विजय हुई, तब संस्कृति के क्षेत्र में निम्न-जन-श्रेणियों को पीछे हटना पड़ा। यह आवश्यक नहीं कि आगे चलकर ये निम्न-जन-श्रेणियाँ चुपचाप बैठी रहें। शायद वह जमाना जल्दी ही आ रहा है जब वे स्वयं संस्कृति का नेतृत्व करेंगी, और वर्तमान नेतृत्व अध:पतित होकर धराशायी हो जायेगा। इस बात से वे डरें जो समाज के उत्पीड़क हैं, या उनके साथ हैं हम नहीं क्योंकि हम पद-दलित हैं और अविनाशाय हैं--- हम चाहे जहाँ उग आते हैं। गरीब, उत्पीड़ित, शोषित मध्यवर्ग को ध्यान में रखकर मैं यह बात कह रहा हूँ।''[66]

8 अंतत:

एक साहित्यकार के इतिहास-बोध और आलोचना-विवेक को समझने के लिए उसके आस-पास के बौद्धिक पर्यावरण एवं परंपरा की धार को समझना भी जरूरी होता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के समय का बौद्धिक पर्यावरण आचार्य रामचंद्र शुक्ल की सर्जनात्मक उपस्थिति से बनता था। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन और आलोचना का आधार तैयार करने के कार्य को जिस बौद्धिक तत्परता और व्यापकता से पूरा किया उसे एक बड़ी बौद्धिक छलाँग कहना अत्युक्ति नहीं होगी। इतनी बड़ी छलाँग में बहुत कुछ का छूट जाना असंभव नहीं हुआ करता है। फिर वह कबीर जैसा पहाड़ ही क्यों न हो! हिंदी प्रदेश से तो कबीर वैसे ही बहिष्कृत थे। जब बुद्ध ही निर्वासित थे तो कबीर, जिनके साहित्य में बोद्ध धर्म और उसकी सामाजिक चेतना का विलयन हुआ था, कैसे स्वीकार्य हो सकते थे! कबीर के लिए जब समाज में ही जगह नहीं बन पाई थी तो साहित्य का क्या कहना! फिर आचार्य रामचंद्र शुक्ल के प्रत्यक्ष अनुभव में न तो बंगाल का नवजागरण ही था और न रवींद्रनाथ ठाकुर और क्षितिमोहन सेन के कबीर संबंधी कार्य और प्रेरणा का प्रदीप्त प्रभाव ही था। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के समक्ष यह अवसर था कि हिंदी आलोचना में अनुल्लंघ्य के उल्लंघन के दोष का परिहार और प्रायश्चित किया जा सके। कहना न होगा कि अपने जानते उन्होंने इस अवसर का पूरा उपयोग भी किया। उन्होंने जो वैकल्पिक इतिहास दृष्टि व्यवहार में लाई उसके पीछे अनिवार्य रूप से सक्रिय वैकल्पिक आलोचना विवेक को भी चिह्नित करना चाहिए। इतना तो तय है कि अपनी

कतिपय परिस्थितिजन्य और संस्कारजन्य सीमाओं के बावजूद आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कबीर को हिंदी प्रदेश के साहित्यिक वातावरण में प्रतिष्ठित कर दिया। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'कविता क्या है' नहीं लिखा ठीक, लेकिन इस कारण से 'कविता का प्रतिमान' लिखना कहाँ बंद हो गया! यह सच है कि आलोचना विश्लेषण का पर्याय नहीं है, लेकिन क्या विश्लेषण अलोचना की परोपजीविता का प्रमाण है! और उद्धरण? ऐसा बताया जाता है कि कर्ण को परशुराम का शाप था कि उन से सीखी हुई विद्या तभी विस्मृत हो जायेगी जब जीवन में उसकी सबसे ज्यादा जरूरत होगी। अगर इस प्रसंग का कोई अर्थ है तो अब शाप पलट गया लगता है। वह ताकत अक्सर गुरू परशुराम का साथ छोड़ देती है जिस ताकत की उन्हें अत्यधिक जरूरत होती है; फिर उस ताकत का नाम विवेक और संदर्भ का नाम अलोचना ही क्यों न हो!

अपने अंतिम समय में विद्यापति गंगा दर्शन के लिए उपस्थित हुए थे। उन्होंने बड़ी विनम्रता से प्रार्थनापूर्वक क्षमायाची मुद्रा में कहा था कि हे माँ, मुझे क्षमा करना मैंने तुम्हारे पानी को अपने पैर से स्पर्श किया है--- परसल माए, पाए तुअ पानी। परंपरा के पानी में तो उतरना ही पड़ता है; परंपरा 'पवित्र वन' न सही, तब भी परंपरा के अवदानों को समझकर इतनी-सी क्षमायाची मुद्रा तो होनी ही चाहिए।

अंततः इतिहास और परंपरा विश्लेषण के विषय हैं, दोष निरूपण के नहीं।

कृपया, निम्नलिंक भी देखें--
1.कबीर साहित्य पर विचार.pdf

संदर्भः

1. नामवर सिंहः त्वं खलु कृतीः दूसरी परंपरा की खोजः राजकमल प्रकाशन, 1982/1989
2. Dr. Babasaheb Ambedkar : "Revolution and Counter Revolution in Ancient India: Writings and speeches, Volume 3 (Bombay Govt of Maharashtra, 1987) p.275 { DALIT VISION}
3. प्रो. श्यामाचरण दुबेछ समय और संस्कृतिः भारतीयता की तलाशः वाणी प्रकाशन, 1996
4. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः हिंदी साहित्य की भूमिका– हिंदी साहित्यः भारतीय चिंता का स्वाभाविक विकासः राजकमल प्रकाशन
5. आचार्य हजारीप्रसाद द्विदेदीः भाषा साहित्य और देशः भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
6. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः भारतीय साहित्य की प्राण-शक्तिः विचार-प्रवाहः हिंदी ग्रंथ रत्नाकर
7. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः मध्यकालीन साहित्यों की परस्पर सापेक्षिताः विचार-प्रवाहः हिंदी ग्रंथ रत्नाकर
8. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः हिंदी साहित्य की भूमिका– हिंदी साहित्यः भारतीय चिंता का स्वाभाविक विकासः राजकमल प्रकाशन
9. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः मध्यकालीन साहित्यों की परस्पर सापेक्षिताः विचार-प्रवाहः हिंदी ग्रंथ रत्नाकर
10. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः हिंदी साहित्य की भूमिका– हिंदी साहित्यः भारतीय चिंता का स्वाभाविक विकासः राजकमल प्रकाशन
11. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः हिंदी साहित्य की भूमिका– हिंदी साहित्यः भारतीय चिंता का स्वाभाविक विकासः राजकमल प्रकाशन
12. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः हिंदी साहित्य की भूमिका– भक्तों की परंपराः राजकमल प्रकाशन
13. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः हिंदी साहित्य की भूमिका– हिंदी साहित्यः भारतीय चिंता का स्वाभाविक विकासः राजकमल प्रकाशन
14. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः हिंदी साहित्य की भूमिका– हिंदी साहित्यः भारतीय चिंता का स्वाभाविक विकासः राजकमल प्रकाशन
15. डॉ. सर्वेपल्लि राधाकृष्णन् : भारतीय संस्कृति कुछ विचार
16. डॉ. सर्वेपल्लि राधाकृषणन् : भारतीय संसकृति कुछ विचार
17. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः हिंदी साहित्य की भूमिका– हिंदी साहित्यः भारतीय चिंता का स्वाभाविक विकासः राजकमल प्रकाशन
18. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः हिंदी साहित्य की भूमिका– हिंदी साहित्यः भारतीय चिंता का स्वाभाविक विकासः राजकमल प्रकाशन
19. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः हिंदी साहित्य की भूमिका– हिंदी साहित्यः भारतीय चिंता का स्वाभाविक विकासः राजकमल प्रकाशन
20. नामवर सिंहः भारतीय साहित्य की प्राणधारा और लोक धर्मः दूसरी परंपरा की खोजः राजकमल प्रकाशन
21. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः मध्यकालीन साहित्यों की परस्पर सापेक्षिताः विचार-प्रवाहछ ग्रंथ रत्नाकर
22. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः हिंदी साहित्य की भूमिका– हिंदी साहित्यः भारतीय चिंता का स्वाभाविक विकासः राजकमल प्रकाशन
23. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः कबीर-वाणीः कबीरः राजकमल प्रकाशन
24. रामधारी सिंह दिनकरः संस्कृति के चार अध्याय
25. प्रफुल्ल कोलख्यानः बाजारवाद और जनतंत्रः धर्म, समाज और राज्यः आनंद प्रकाशन
26. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः हिंदी साहित्य की भूमिका– हिंदी साहित्यः भारतीय चिंता का स्वाभाविक विकासः राजकमल प्रकाशन
27. प्रोफेसर तुलसी रामः रामाज्ञा राय शशिधर की बातचीतः अंधविश्वास धर्म का मुख्य तत्व हैः समयांतर, मार्च 2003
28. कबीरः कबीर ग्रंथावलीः संपादन श्यामसुंदर दासः प्रस्तावनाः नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
29. आचार्य हजारीप्रसाद द्वविदेदीः हिंदी साहित्य की भूमिका – भक्तों की परंपराः राजकमल प्रकाशन
30. कबीरः कबीर ग्रंथावलीः संपादन श्यामसुंदर दास सं.13: परचा को अंग-35: नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
31. कबीरः कबीर ग्रंथावलीः संपादन श्यामसुंदर दास सं.13: पदावली - 58: नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
32. प्रफुल्ल कोलख्यानः ढाई आखर का प्रेम और विश्वः कबीर का सचः संपादक सोलजी थॉमस
33. रामविलास शर्माः परंपरा का मूल्यांकनः संत साहित्य के अध्ययन की समस्याएः राजकमल प्रकाशन
34. लेनिनः सामाजवाद और धर्मः धर्म और लेनिनः संग्रहीत रचनाएँ खंड-10 (हिंदी पाठः नेशमल बुक एजेंसी)
35. कबीर – कबीर-वाणीः आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः राजकमल प्रकाशन
36. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः हिंदी साहित्य की भूमिका – हिंदी साहित्यः भारतीय चिंता का स्वाभाविक विकासः राजकमल प्रकाशन
37. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः प्रथम व्याख्यानः हिंदी साहित्य का आदिकालः बिहार राष्ट्रभाषा परिषद
38. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः प्रथम व्याख्यानः हिंदी साहित्य का आदिकालः बिहार राष्ट्रभाषा परिषद
39. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः प्रथम व्याख्यानः हिंदी साहित्य का आदिकालः बिहार राष्ट्रभाषा परिषद
40. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः प्रथम व्याख्यानः हिंदी साहित्य का आदिकालः बिहार राष्ट्रभाषा परिषद

41. भरतमुनि: नाट्यशास्त्र, 1.12
42. नामवर सिंह: अस्वीकार का साहस: दूसरी परंपरा की खोज: राजकमल प्रकाशन
43. नामवर सिंह: ब्राह्मण समाज में ज्यों अछूत: दूसरी परंपरा की खोज: राजकमल प्रकाशन
44. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी: कबीर – उपसंहार: राजकमल प्रकाशन
45. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी: हिंदी साहित्य की भूमिका – हिंदी साहित्य: भारतीय चिंता का स्वाभाविक विकास: राजकमल प्रकाशन
46. भगवद्गीता: चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागश:। तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम।।3।। अध्याय 4, गीता प्रेस
47. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी: कबीर: कबीर-वाणी: राजकमल प्रकाशन
48. कबीर: कबीर ग्रंथावली: संपादन श्यामसुंदर दास सं.13: पदावली -16: नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
49. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी: कबीर – उपसंहार: राजकमल प्रकाशन
50. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी: हिंदी साहित्य की भूमिका: भक्तों की परंपरा: राजकमल प्रकाशन
51. कबीर: कबीर ग्रंथावली: संपादन श्यामसुंदर दास सं.13: पदावली -40: नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
52. कबीर:कबीर ग्रंथावली: संपादन श्यामसुंदर दास सं.13: पदावली -249: नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
53. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी: कबीर – उपसंहार: राजकमल प्रकाशन
54. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी: कबीर– कबीर-वाणी: राजकमल प्रकाशन
55. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी: कबीर – उपसंहार: राजकमल प्रकाशन
56. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी: कबीर– उपसंहार: राजकमल प्रकाशन
57. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी: कबीर– कबीर-वाणी: राजकमल प्रकाशन
58. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी: कबीर– कबीर-वाणी: राजकमल प्रकाशन
59. 'interpolation' का अर्थ लें
60. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी: कबीर– कबीर-वाणी: राजकमल प्रकाशन
61. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी: हिंदी साहित्य की भूमिका: राजकमल प्रकाशन
62. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी: कबीर– कबीर-वाणी: राजकमल प्रकाशन
63. शंभुनाथ: दुस्समय में साहित्य– परंपरा का मूल्यांकन: कबीर का सांस्कृतिक महाविद्रोह: वाणी प्रकाशन
64. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी: हिंदी साहित्य की भूमिका: राजकमल प्रकाशन
65. रामविलास शर्मा: परंपरा का मूल्यांकन– संत साहित्य के अध्ययन की समस्याएँ : राजकमल प्रकाशन
66. मुक्तिबोध: मुक्तिबोध रचनावली, भाग-4 : राजकमल प्रकाशन